पाहुड दोहा

अनुक्रमणिका

001) मंगलाचरण
002) गाथा २-१०
011) गाथा ११-२०
021) गाथा २१-३०
041) गाथा ४१-५०
051) गाथा ५१-६०
061) गाथा ६१-७०
071) गाथा ७१-८०
081) गाथा ८१-९०
091) गाथा ९१-१००
101) गाथा १०१-११०
111) गाथा १११-१२०
121) गाथा १२१-१३०
131) गाथा १३१-१४०
141) गाथा १४१-१५०
151) गाथा १५१-१६०
161) गाथा १६१-१७०
171) गाथा १७१-१८०
181) गाथा १८१-१९०
191) गाथा १९१-२००
201) गाथा २०१-२१०
211) गाथा २११-२२२

!! श्रीसर्वज्ञवीतरागाय नम: !!

श्रीमद्-राम-सिंह मुनि-प्रणीत

श्री

पाहुड-दोहा

मूल प्राकृत गाथा

आभार :

!! नम: श्रीसर्वज्ञवीतरागाय !!

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमो नम: ॥1॥
अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलकलंका
मुनिभिरूपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥2॥
अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नम: ॥3॥
॥ श्रीपरमगुरुवे नम:, परम्पराचार्यगुरुवे नम: ॥

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमन: प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री पाहुड-दोहा नामधेयं, अस्य मूलाग्रन्थकर्तार: श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तर ग्रन्थकर्तार: श्रीगणधरदेवा: प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचनानुसारमासाद्य श्री रामसिंह मुनि विरचितं

॥ श्रोतार: सावधानतया शृणवन्तु ॥

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥
सर्वमंगलमांगल्यं सर्वकल्याणकारकं
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम् ॥

मंगलाचरण

गुरु दिणयरु गुरु हिमकिरणु गुरु दीवउ गुरु देउ ।
अप्पहं परहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ ॥1॥

अन्वयार्थ : जो परंपरा से आत्मा और पर का भेद दर्शाते हैं, ऐसे गुरु ही दिनकर हैं, गुरु ही हिम किरण-चन्द्रमा हैं, गुरु ही दीपक हैं और वे गुरु ही देव हैं ।

गाथा २-१०

बलिहारी गुरु अप्पणइं दिउ हांडी सय वार ।
माणस हुंतउं देऊ किउ करंत ण लग्गइ वार ॥2॥

अन्वयार्थ : उन गुरु की सौ बार बलिहारी है जिन ने देह को छोड़ दिया, अपनी आत्मा को मनुष्य से देव किया और ऐसा करने में समय नहीं लगाया ।

अप्पायत्तउ जं जि सुहु तेण जि करि संतोसु ।
पर सुहु वढ चितंतयहं हियइ ण फिट्टइ सोसु ॥3॥

अन्वयार्थ : हे वत्स ! जो सुख आत्मा के आधीन है, उसी से तू सन्तोष कर । जो पर में सुख का चिन्तन करता है, उसके मन का सोच कभी नहीं मिटता ।

जं सुहु विसयपरंमुहउ णिय अप्पा झायंतु ।
तं सुहु इंदु वि णवि लहइ देविहिं कोडि रमंतु ॥4॥

अन्वयार्थ : विषयों से पराङ्मुख होकर अपने आत्मा के ध्यान में जो सुख होता है, वह सुख करोड़ों देवियों के साथ रमण करने वाले इन्द्र को भी नही मिल सकता ।

आभुंजंतउ विसयसुहु जे णवि हियइ धरंति ।
ते सासयसुहु लहु लहहिं जिणवर एम भणंति ॥5॥

अन्वयार्थ : विषय सुख को भोगते हुए भी जो अपने हृदय में उसको धारण नहीं करते (उसमें सुख नहीं मानते), वे अल्पकाल में शाश्वत सुख प्राप्त करते हैं, ऐसा जिनवर कहते हैं ।

णवि भुंजंता विसयसुहु हियडइ भाउ धरंति ।
सालिसित्थु जिम वप्पुडउ णर णरयहं णिवडंति ॥6॥

अन्वयार्थ : विषयसुख का उपभोग न करते हुए भी जो अपने हृदय मे उसको भोगने का भाव धारण करते हैं. वे नर बेचारे शालिसिक्ख मच्छ (तंदुल मच्छ) की तरह नरक में जा पहते हैं ।

धंधईं पडियउ सयलु जगु कम्मइं करइ अयाणु ।
मोक्खह कारणु एक्कु खणु णवि चिंतइ अप्पाणु ॥7॥

अन्वयार्थ : धन्धे मे पडा हुआ सकल जगत अज्ञानवश कर्म तो करता है, परन्तु मोक्ष के कारणभूत अपने आत्मा का चिन्तन एक क्षण भी नहीं करता ।

ओयइं अडबड वडवडइ पर रंजिज्जइ लोउ ।
मणसुद्धइ णिच्चल ठियइ पाविज्जइ परलोउ ॥8॥

अन्वयार्थ : लोग आपत्ति के समय में अट्पट बडबडाते हैं तथा पर से रंजित हो जाते है, परन्तु उससे कुछ भी सिद्धि नहीं होती, अपने मन की शुद्धता से तथा निश्चल स्थिरता से जीव परलोक को (परमात्मदशा को) प्राप्त करता है ।

जोणिहिं लक्खहिं परिभमइ अप्पा दुक्खु सहंतु ।
पुत्तकलत्तहं मोहियउ जाव ण बोहि लहंतु ॥9॥

अन्वयार्थ : जब तक यह आत्मा बोधि की प्राप्ति नहीं करता, तबतक स्त्री-पुत्रादिक में मोहित होकर दु ख सहता हुआ लाखों योनियों में परिभ्रमण करता है ।

अण्णु म जाणहि अप्पणउ घरु परियणु जो इट्ठु ।
कम्मायत्तउ कारिमउ आगमि जोइहिं सिट्ठु ॥10॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! जिन्हें तू इष्ट समझ रहा है - ऐसे घर, परिजन और शरीर - ये यब पदार्थ तेरे से अन्य हैं, उन्हे तू अपना मत जान, ये सब बाह्य जंजाल कर्मों के आधीन हैं - ऐसा योगियों ने आगम में बताया है ।

गाथा ११-२०

जं दुक्खु वि तं सुक्खु किउ जं सुहु तं पि य दुक्खु ।
पइं जिय मोहहिं वसि गयउ तेण ण पायउ मोक्खु ॥11॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! मोह के वश में पडकर तूने दु:ख को सुख मान लिया है और सुख को दु:ख मान लिया है, इस कारण तूने मोक्ष नहीं पाया ।

मोक्खु ण पावहि जीव तुहुं धणु परियणु चिंतंतु ।
तोउ वि चिंतहि तउ वि तउ पावहि सुक्खु महंतु ॥12॥

अन्वयार्थ : हे जीव! तू धन और परिजन का चिन्तन करने से मोक्ष नहीं पा सकता, अत: तू अपने आत्मा का ही चिन्तन कर, जिससे तू महान सुख को पावेगा ।

घरवासउ मा जाणि जिय दुक्क्तयवासउ एहु ।
पासु कयंते मंडियउ अविचलु णीसंदेहु ॥13॥
अन्वयार्थ : हे जीव ! उस धन-परिजन को तू ग्रहवास मत समझ, वह वो दुष्कृत्य का धाम है और वह यम का फैलाया हुआ फन्दा है - इसमें सन्देह नहीं ।
मूढा सयलु वि कारिमउ मं फुड्ड तुहुं तुस कंडि ।
सिवपहि णिम्मलि करहि रइ घरु परियणु लहु छंडि ॥14॥
अन्वयार्थ : हे मूढजीव ! बाहर ये सब कर्मजाल है । प्रगट तुस (भूसे) को तू मत कूट । घर-परिजन को शीघ्र छोड़कर निर्मल शिवपद में प्रीति कर ।
मोहु विलिज्जइ मणु मरइ तुट्टइ सासु णिसासु ।
केवलणाणु वि परिणवइ अंबरि जाह णिवारु ॥15॥
अन्वयार्थ : जिसका मोह नष्ट हो जाता है, मन मर जाता है, श्वाच्छोस्वास छूट जाता है वह केवलज्ञानरूप परिणमता है और आकाश में उसका निवास हो जाता है ।
सप्पें मुक्की कंचुलिय जं विसु ते ण मुएइ।
भोयहं भाउ ण परिहरइ लिंगग्गहणु करेइ ॥16॥
अन्वयार्थ : सर्प बाहर में केचुली को तो छोड़ देता है, परन्तु भीतर के विष को नही छोडता, उसी प्रकार अज्ञानीजीव द्वव्यलिंग धारण करके बाह्य-त्याग तो करता है, परन्तु अन्तर में से विषय-भोगों की भावना का परिहार नहीं करता ।
जो मुणि छंडिवि विसयसुहु पुणु अहिलासु करेइ ।
लुंचणु सोसणु सो सहइ पुणु संसारु भमेइ ॥17॥
अन्वयार्थ : जो मुनि छोड़े हुए विषयसुखों की फिर से अभिलाषा करता है, वह मुनि केशलोंच एवं शरीर-शोषण के क्लेश को सहन करता हुआ भी संसार में ही परिभ्रमण करता है ।
विसयसुह दुइ दिवहडा पुणु दुक्खहं परिवाडि ।
भुल्लउ जीव म बाहि तुहं अप्पाखंधि कुहाडि ॥18॥
अन्वयार्थ : ये विषय-सुख तो दो दिन रहनेवाले क्षणिक हैं, फिर तो दु:खों की ही परिपाटी है । इसलिये हे जीव ! भूल कर तू अपने ही कंधे पर कुल्हाड़ी मत मार ।
उव्वडि चोप्पडि चिट्ठ करि देहि सुमिट्ठाहारु ।
सयल वि देह णिरत्थ गय जिम दुज्जण उवयारु ॥19॥
अन्वयार्थ : जैसे दुश्मन के प्रति किये गये उपकार बेकार जाते हैं, वैसे हे जीव ! तू इस शरीर को स्नान कराता है, तेल-मर्दन कराता है तथा सुभिष्ठ भोजन खिलाता है, वे सब निरर्थक जानेवाले हैं (अर्थात् यह शरीर तेरा कुछ भी उपकार करने वाला नहीं है), अत. तू इसकी ममता छोड़ दे ।
अथिरेण थिरा मइलेण णिम्मला णिग्गुणेण गुणसारा ।
काएण जा विढप्पइ सा किरिया किण्ण कायव्वा ॥20॥
अन्वयार्थ : अस्थिर, मलिन और निर्गुण - ऐसी काया से स्थिर, निर्मल तथा सारभूत (गुणवाली) क्रिया क्यों न की जाय ?

गाथा २१-३०

उम्मूलिवि ते मूलगुण उत्तरगुणहिं विलग्ग ।
वाण्णर जेम पलंबचुय बहुय पडेविणु भग्ग ॥21॥
अन्वयार्थ : जो जीव मूलगुणों का उन्मूलन करके उत्तरगुणों में संलग्न रहता है, वह डाली से चूके हुए बन्दर की तरह नीचे गिरकर नष्ट होता है ।

वरु विसु विसहरु वरु जलणु वरु सेविउ वणवासु ।
णउ जिणधम्मपरम्मुहउ मिच्छत्तिय सहु वासु ॥22॥
अन्वयार्थ : विष भला, विषधर भी भला, अग्नि या वनवास का सेवन भी अच्छा, परन्तु जिनधर्म से विमुख ऐसे मिथ्यादृष्टियों का सहवास अच्छा नहीं ।
सो णत्थि इह पएसो चउरासीलक्खजोणिमज्झम्मि ।
जिणवयणं अलहंतो जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो ॥23॥
अन्वयार्थ : यहाँ चौरासी लाख योनियों के मध्य में ऐसा कोई प्रदेश बाकी नहीं रहा कि जहाँ जिनवचन को न पाकर इस जीव ने परिभ्रमण न किया हो ।
अप्पा बुज्झिउ णिच्चु जइ केवलणाणसहाउ ।
ता परि किज्जइ काइं वढ तणु उप्परि अणुराउ ॥24॥
अन्वयार्थ : यदि तूने आत्मा को नित्य एवं केवलज्ञान स्वभावी जान लिया तो फिर हे वत्स ! शरीर के ऊपर तू अनुराग क्यों करता है ?
जसु मणि णाणु ण विप्फुरइ कम्महं हेउ करंतु ।
सो मुणि पावइ सोक्खु णवि सयलइं सत्थ मुणंतु ॥25॥
अन्वयार्थ : जिसके चित्त में ज्ञान का विस्फुरण नहीं हुआ है, तथा जो कर्म के हेतु (पुण्य-पाप) को ही करता है, वह मुनि सकल शास्त्रों को जानता हुआ भी सच्चे सुख को नहीं पाता ।
बोहिविवज्जिउ जीव तुहुं विवरिउ तच्चु मुणेहि ।
कम्मविणिम्मिय भावडा ते अप्पाण भणेहि ॥26॥
अन्वयार्थ : बोधि से विवर्जित (रहित) हे जीव ! तू तत्त्व को विपरीत मानता है, क्योंकि कर्मों से निर्मित भावों को तू आत्मा का समझता है ।
हउं गोरउ हउं सामलउ हउं जि विभिण्णउ वण्णु ।
हउं तणु अंगउ थूलु हउं एउह जीव ण मण्णु ॥27॥
णवि तुहुं पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु णवि णीसु ।
णवि गुरु कोइ वि सीसु णवि सव्वइं कम्मविसेसु ॥28॥
णवि तुहुं कारणु कज्जु णवि णवि सामिउ णवि भिच्चु ।
सूरउ कायरु जीव णवि णवि उत्तमु णवि णिच्चु ॥29॥
पुण्णु वि पाउ वि कालु णहु धम्मु अहम्मु ण काउ ।
एक्कु वि जीव ण होहि तुहुं मेल्लिवि चेयणभाउ ॥30॥
णवि गोरउ णवि सामलउ णवि तुहुं एककु वि वण्णु ।
णवि तणु अंगउ थूलु णवि एहउ जाणि सवण्णु ॥31॥
हउं वरु बंभणु णवि वइसु णउ खत्तिउ णवि सेसु ।
पुरिसु णउंसउ इत्थि णवि एहउ जाणि विसेसु ॥32॥
तरुणउ बुड्ढ़उ बालु हउं सूरउ पंडित दिव्वु ।
खवणउ वंदउ सेवडउ एहउ चिंति म सव्वु ॥33॥
अन्वयार्थ : मैं गोरा हूँ, साँवला हूँ, विभिन्न वर्णवाला हूँ, दुर्बल हूँ, स्थूल हूँ - ऐसा हे जीव, तू मत मान ।
तू न पण्डित है न मूर्ख, न ईश्वर है न सेवक, न गुरू है न शिष्य - यह सब विशेषताएं कर्म-जनित हैं ।
हे जीव ! तू न किसी का कारण है न कार्य, न स्वामी है न सेवक, न शूर है न कायर, और न उत्तम है न नीच ।
हे जीव ! पुण्य-पाप, काल, आकाश, धर्म, अधर्म एवं काया - एक भी तू (तेरे) नही, चेतनभाव को छोड़कर ।

तू न गोरा है न श्याम, एक भी वर्णवाला तू नही है, दुर्बल शरीर या स्थूल शरीर वह भी तू नहीं है - ये तो सब कर्म-जनित है, तेरा स्वरूप उनसे भिन्न समझ ।

न मैं श्रेष्ठ ब्राह्मण हूँ, न वेश्य हूँ, क्षत्रिय या अन्य भी मैं नहीं हूँ, उसी प्रकार पुरुष, नपुंसक या स्त्री भी मैं नहीं हूँ - ऐसा विशेष जान ।

मैं जवान हूँ, बूढा हूँ, बालक हूँ, दिव्य पण्डित हूँ, क्षपणक (दिगम्बर) हूँ, वन्दक (श्वेतम्बर) हूँ - ऐसा कुछ भी चिंतन तू मत कर ।

देहहो पिक्खिवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि ।

जो अजरामरु बंभु परु सो अप्पाण मुणेहि ॥34॥

देहहं उन्भउ जरममरणु देहहं वण्ण विचित्त ।

देहहं रोया जाणि तूहुं देहहं लिंगइं मित्त ॥35॥

अत्थि ण उब्भउ जरमरणु रोय वि लिंगइं वण्ण ।

णिच्छड अप्पा जाणि तुहुं जीवहं णेक्क वि सण्ण ॥36॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! देह का जरा-मरण देखकर तू भय मत कर, अपने आत्मा को तू अजर-अमर परम-ब्रह्म जान ।

जरा तथा मरण ये दोनों देह के हैं, विचित्र वर्ण भी देह के ही हैं और हे जीव ! रोग को भी तू शरीर का ही जान, एवं लिंग भी शरीर के ही हैं ।

हे आत्मन् ! निश्चय से तू ऐसा जान कि इनमें से एक भी संज्ञा जीव की नहीं है, जन्म या मरण ये दोनों जीव के नहीं है, रोग नहीं हैं तथा लिंग या वर्ण भी नहीं है ।

कम्महं केरउ भावडउ जइ अप्पणा भणेहि ।

तो वि ण पावहि परमपउ पुणु संसारु भमेहि ॥37॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! यदि तू कर्म के भाव को आत्मा का कहता है तो परमपद को तू नहीं पा सकेगा, बल्कि संसार में ही भ्रमण करेगा ।

अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अवरु परायउ भाउ ।

सो छंडेविणु जीव तुहुं झायहि सुद्धसहाउ ॥38॥

अन्वयार्थ : ज्ञानमय आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब भाव पराये है, उन्हे छोड़कर है जीव ! तू शुद्ध स्वभाव का ध्यान कर ।

वण्णविहूणउ णाणमउ जो भावइ सब्भाउ ।

संतु णिरंजणु सो जि सिउ तहिं किज्जइ अणुराउ ॥39॥

अन्वयार्थ : जो वर्ण से रहित, ज्ञानमय निज-स्वभाव को भाता है, संत है, निरंजन है, वही शिव है (कल्याणरूप है), अत उसी में अनुराग करो ।

तिहुवणि दीसइ देउ जिणु जिणवरु तिहुवणु एउ ।

जिणवरि दीसइ सयलु जगु को वि ण किज्जइ भेउ ॥40॥

अन्वयार्थ : तीन-भुवन (तीन-लोक) में देव तो जिनवर ही दिखता है और जिनवरदेव में ये तीन लोक दिखते हैं, जिनवर के ज्ञान में सकल जगत दृष्टिगोचर होता है, उसमें कोई भेद नहीं करना चाहिए ।

गाथा ४१-५०

बुज्झहु बुज्झहु जिणु भणइ को बुज्झउ हलि अण्णु ।

अप्पा देहहं णाणमउ छुहु बुज्झियउ विभिण्णु ॥41॥

अन्वयार्थ : कोई कहता है कि हे जीवों ! तुम जिन को जानो.. जानो । किन्तु यदि ज्ञानमय आत्मा को देह से अत्यन्त भिन्न जान लिया, तो भला और क्या जानने को शेष रहा ?

वंदहु वंदहु जिणु भणइ को वंदउ हलि इत्थु ।

णियदेहाहं वसंतयहं जइ जाणिउ परमत्थु ॥42॥

अन्वयार्थ : कोई कहता है कि हे जीवों! तुम जिनवर को वन्दो.. वन्दो! परन्तु यदि अपने देह में ही स्थित परमार्थ को जान लिया, तो फिर

भला अन्य किसकी वन्दना करना शेष रहा ?
उपलाणहिं जोइय करहुलउ ।
दावणु छोडहि जिम चरइ ।
जसु अखइणि समइं गयउ मणु ।
सो किम बुहु जगि रइ करइ ॥43॥
अन्वयार्थ : जिसप्रकार हाथी का बच्चा अथवा ऊँट कमल को देखकर अपना बन्धन तोड़कर विचरण करने लगते हैं, उसप्रकार जिसका मन अक्षयिनी-रामा (मुक्ति-रमणी) में लगा हुआ है ऐसा बुधजन जगत (संसार-बन्धन) में रति कैसे करे ?
(दूसरा **अर्थ** :) अक्षय ऐसी मोक्ष-सुन्दरी में जिसका चित्त लगा है, वह बुधजन संसार में रति क्यों करे ? अतः हे जीव! तू ऊँट के ऊपर पलान रख और उसके बन्धन खोल दे, जिससे कि वह मोक्ष की ओर आगे बढ़े ।
ढिल्लउ होहि म इंदियहं पंचहं विण्णि णिवारि ।
एक्क णिवारहि जीहडिय अण्ण पराइय णारि ॥44॥
अन्वयार्थ : हे जीव ! पांच इन्द्रियों के सम्बन्ध में तू ढीला मत हो । इनमें भी दो का निवारण कर, एक तो जीभ को रोक ओर दूसरी पराई नारी को छोड़।
पंच बलद्द ण रक्खियईं ।
णंदणवणु ण गओ सि ।
अप्पु ण जाणिउ ण वि परु ।
वि एमइह पव्वइओ सि ॥45॥
अन्वयार्थ : तुमने न तो पाँचों बैलों की रखवाली की और न नंदनवन में प्रवेश किया । तूने न तो आत्मा को जाना, न पर को जाना -- ऐसे ही सन्यासी बन बैठा !
पंचहिं बाहिरु णेहडउ हलि सहि लग्गु पियस्स ।
तासु ण दीसइ आगमणु जो खलु मिलिउ परस्स ॥46॥
अन्वयार्थ : हे सखी ! प्रियतम को तो बाहर में पांच का स्नेह लगा है; जो दुष्ट अन्य के साथ मिला हुआ है, उसका स्वघर में आगमन नहीं दिखता ।
मणु जाणइ उवएसडउ जहिं सोवेइ अचिंतु ।
अचित्तहो चित्तु जो मेलवइ सो पुणु होइ णिचिंतु ॥47॥
अन्वयार्थ : मन चिन्ता-रहित (निश्चित) होकर जब सो जाता है (एकाग्र होकर थम जाता है) तभी वह उपदेश को समझ सकता है और अचित्त वस्तु से अपने चित्त को जो अलग करता है, वही निश्चिन्त होता है ।
वठ्टडिया अणुलग्गयहं अग्गउ जोयंताहं ।
कंटउ भग्गइ पाउ जइ भज्जउ दोसु ण ताहं ॥48॥
अन्वयार्थ : जो आगे देखता हुआ मार्ग में (ध्येय के सम्मुख) चल रहा है, उसके पैर में कदाचित् काँट लग जाय तो लग जावे; इसमें उसका दोष नहीं है ।
मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरु जि मणस्स ।
बिण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चडावउं कस्स ॥49॥
अन्वयार्थ : मन तो परमेश्वरमें मिल गया ओर परमेश्वर मन में मिल गया; दोनों एक रस-समरस हो रहे हैं, तब में पूजन सामग्री किसको चढाऊँ ?
सकलं विकलं चरणं, तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम्
अनगाराणां विकलं, सागाराणां ससङ्गानाम् ॥50॥

अन्वयार्थ : रे जीव ! तू देव का आराधन करता है, परन्तु तेरा परमेश्वर कहाँ चला गया ? जो शिव-कल्याणरूप परमेश्वर सर्वांग में विराज रहा है, उसको तू कैसे भूल गया ?

गाथा ५१-६०

अम्मिए जो परु सो जि परु परु अप्पाण ण होइ ।
हउं डज्झउ सो उव्वरइ वलिवि ण जोवइ तो इ ॥51॥

अन्वयार्थ : अहो ! जो पर है सो पर ही है; पर कभी आत्मा नहीं होता । शरीर तो दग्ध होता है और आत्मा ऊपर चला जाता है, वह पीछे मुड़कर भी नहीं देखता ।

मूढा सरलु वि कारिमउ णिक्कारिमउ ण कोइ ।
जीवहु जंत ण कुडि गइय इउ पडिछंदा जोइ ॥52॥

अन्वयार्थ : रे मूढ ! ये सब (शरीरादिक संयोग) तो कर्म-जंजाल है, वे कोई निष्कर्म (स्वाभाविक) नहीं है । देख ! जीव चला गया, किन्तु देह-कुटीर उसके साथ नहीं गई--इस दृष्टान्त से दोनों की भिन्नता देख ।

देहादेवलि जो वसइ सत्तिहिं सहियउ देउ ।
को तहिं जोइय सत्तिसिउ सिगधु गवेसहि भेउ ॥53॥

अन्वयार्थ : देहरूपी देवालय में जो शक्ति-सहित देव वास करता है, हे योगी ! वह शक्तिमान शिव कौन है ? इस भेद को तू शीघ्र ढूँढ ।

जरइ ण मरइ ण संभवई जो परि को वि अणंतु ।
तिहुवणसामिउ णाणमउ सो सिवदेउ णिभंतु ॥54॥

अन्वयार्थ : जो न जीर्ण होता है, न मरता है, न उपजता है, जो सबसे पर, कोई अनंत है, त्रिभुवन का स्वामी है ओर ज्ञानमय है, वह शिवदेव है--ऐसा तुम निर्भ्रान्त जानो ।

सिव विणु सत्ति ण वावरइ सिउ पुणु सत्तिविहीणु ।
दोहिं मि जाणहिं सयलु जगु बुज्झइ मोहविलीणु ॥55॥

अन्वयार्थ : शिव के बिना शक्ति का व्यापार नहीं हो सकता और शक्ति-विहीन शिव भी कुछ कर नहीं सकता; इन दोनों का मिलन होते ही मोह का नाश होकर सकल जगत का बोध होता है । (गुण-गुणी सर्वथा भिन्न रहकर कुछ कार्य कर सकते नहीं; दोनों अभेद होकर ही कार्य कर सकते हैं--ऐसा वस्तुस्वरूप और जैन-सिद्धांत है।)

अण्णु तुहारउ णाणमउ लक्खिउ जाम ण भाउ ।
संकप्पवियप्पिउ णाणमउ दुड्ढउ चित्तु वराउ ॥56॥

अन्वयार्थ : तेरा आत्मा ज्ञानमय है, उसके भाव को जबतक नहीं देखा, तबतक चित्त बेचारा दग्ध ओर संकल्प-विकल्प सहित अज्ञानरूप प्रवर्तता है ।

णिच्च णिरामउ णाणमउ परमाणंदसहाउ ।
अप्पा बुज्झिउ जेण परु तासु ण अण्णु हि भाउ ॥57॥

अन्वयार्थ : नित्य, निरामय, ज्ञानमय परमानंदस्वभावरूप उत्कृष्ट आत्मा जिसने जान लिया, उसको अन्य कोई भाव नहीं रहता । (ज्ञान से अन्य समस्त भावों को वह दूसरे का समझता है ।)

अम्हहिं जाणिउ एकु जिणु जाणिउ देउ अणंतु ।
णचरिसु मोहें मोहियउ अच्छइ दूरि भमंतु ॥58॥

अन्वयार्थ : हमने एक जिन को जान लिया तो अनंत देव को जान लिया; इसके जाने बिना मोह से मोहित जीव दूर भ्रमण करता है ।

अप्पा केवलणाणमउ हियडइ णिवसइ जासु ।
तिहुयणि अच्छइ मोक्कलउ पाउ ण लग्गइ तासु ॥59॥

अन्वयार्थ : केवलज्ञानमय आत्मा जिसके हृदय में निवास करता है, वह तीन लोक में मुक्त रहता है और उसे कोई पाप नहीं लगता ।

चिंतइ जंपइ कुणइ ण वि जो मुणि बंधणहेउ ।
केवलणाणफुरंततणु सो परमप्पउ देउ ॥60॥

अन्वयार्थ : जो मुनि बन्धन के हेतु को न चितन करता है, न कहता है ओर न करता है, (अर्थात् मन से, वचन से ओर काया से बंध के हेतु का सेवन नहीं करता) वही केवलज्ञान से स्फुरायमान शरीरवाला परमात्मदेव है ।

गाथा ६१-७०

अब्भिंतरचित्त वि मइलियइं बाहिरि काइं तवेण ।
चित्ति णिरंजणु को वि धरि मुच्चहि जेम मलेण ॥61॥

अन्वयार्थ : यदि अभ्यंतर चित्त मैला है तो बाहर के तप से क्या लाभ ? अतः हे भव्य ! चित्त में कोई ऐसे निरंजन तत्त्व को धारण करो कि जिससे वह मैल से मुक्त हो जाय ।

जेण णिरंजणि मणु धरिउ विसयकसायहिं जंतु ।
मोक्खह कारणु एतडउ अवरइं तंतु ण मंतु ॥62॥

अन्वयार्थ : विषय-कषायों में जाते हुए मन को रोककर निरंजन तत्त्व मे स्थिर करो । बस ! इतना ही मोक्ष का कारण है । दूसरा कोई तंत्र या मंत्र मोक्ष का कारण नहीं है ।

खंतु पियंतु वि जीव जइ पावहि सासयमोक्खु ।
रिसहु भडारउ किं चवइ सयलु वि इंदियसोक्खु ॥63॥

अन्वयार्थ : अरे जीव ! यदि तू खाता-पीता हुआ भी शाश्वत मोक्ष को पा जाय तो भट्टारक ऋषभदेव ने सकल इन्द्रिय-सुखों को क्यों त्यागा ?

देहमहेली एह वढ तउ सत्तावइ ताम ।
वित्तु णिरंजणु परिण सिहुं समरति होइ ण जाम ॥64॥

अन्वयार्थ : हे वत्स ! जब तक तेरा चित्त निरंजन परमतत्त्व के साथ समरस (एकरस) नहीं होता, तब तक ही देहवासना तुझे सताती है ।

जसु मणि णाणु ण विप्फुरइ सव्व वियप्प हणंतु ।
सो किम पावइ णिच्चसुहु सयलइं धम्म कहंतु ॥65॥

अन्वयार्थ : जिसके मन मे, सब विकल्पों का हनन करनेवाला ज्ञान स्फुरायमान नहीं होता, वह अन्य सब धर्मों को करे तो भी नित्य-सुख कैसे पा सकता है ?

जसु मणि णिवसइ परमपउ सयलइं चित चवेवि ।
सो पर पावइ परमगइ अठ्ठइं कम्म हणेवि ॥66॥

अन्वयार्थ : सब चिन्ताओं को छोडकर जिसके मन में परमपद का निवास हो गया, वह जीव आठ कर्मों का हनन करके परमगति को पाता है ।

अप्पा मिल्लिवि गुणणिलउ अण्णु जि झायहि झाणु ।
वढ अण्णाणविमीसियहं कहँ तहं केवलणाणु ॥67॥

अन्वयार्थ : तू गुणनिलय आत्मा को छोड़कर ध्यान में अन्य को ध्याता है, परन्तु हे मूर्ख ! जो अज्ञान से मिश्रित है, उसमें केवलज्ञान कहाँ से होगा ?

अप्पा दंसणु केवलु वि अण्णु सयलु ववहारु ।
एक सु जोइय झाइयइ जो तइलोयहं सारु ॥68॥

अन्वयार्थ : केवल आत्म-दर्शन ही परमार्थ है और सब व्यवहार है । तीन-लोक का जो सार है ऐसे एक इस परमार्थ को ही योगी ध्याते हैं ।

अप्पा दंसणणाणमउ सयलु वि अण्णु पयालु ।
इय जाणेविणु जोइयहु छंडहु मायाजालु ॥69॥

अन्वयार्थ : आत्मा ज्ञान-दर्शनमय है, अन्य सब जंजाल है -- ऐसा जानकर हे योगीजनों ! मायाजाल को छोडो ।

अप्पा मिल्लिवि जगतिलउ जो परदव्वि रमंति ।

अण्णु कि मिच्छादिट्ठियहं मत्थइं सिंगइं होंति ॥70॥

अन्वयार्थ : जगतिलक आत्मा को छोड़कर जो पर-द्रव्य में रमण करते हैं..... तो क्या मिथ्याद्रष्टियों के माथे पर सींग होते होंगे ? (अर्थात् श्रेष्ठ आत्मा को छोड़कर पर में रमण करते हैं, वे मिथ्याद्रष्टि ही हैं ।)

गाथा ७१-८०

अप्पा मिल्लिवि जगतिलउ मूढ म झायहि अण्णु ।

जि मरगउ परियाणियउ तहु किं कच्चहु गण्णु ॥71॥

अन्वयार्थ : हे मूढ ! जगतिलक आत्मा को छोड़कर तू अन्य किसी का ध्यान मत कर । जिसने मरकतमणि को जान लिया, वह क्या कांच को कुछ गिनता है ?

सुहपरिणामहिं धम्मु वढ असुहइं होइ अहम्मु ।

दोहिं मि एहिं विवज्जियउ पावइ जीउ ण जम्मु ॥72॥

अन्वयार्थ : हे वत्स ! शुभ परिणाम से धर्म (पुण्य) होता है और अशुभ परिणाम से अधर्म (पाप) होता है (इन दोनों से तो जन्म होता है), किन्तु इन दोनों से विवर्जित जीव पुनः जन्म धारण नहीं करता, मुक्ति प्राप्त करता है ।

सइं मिलिया सइं विहडिया जोइय कम्म णिभंति ।

तरलसहावहिं पंथियहिं अण्णु कि गाम वसंति ॥73॥

अन्वयार्थ : हे योगी ! कर्म तो स्वयं मिलते हैं और स्वयं बिछुड़ते हैं (क्षणभंगुर हैं) ऐसा निःशंक जान । क्या चंचल-स्वभाव के पथिकों से कहीं गाँव बसते हैं ? (जिसप्रकार पथिक तो रास्ते में मिलते हैं ओर बिछुड़ते हैं, उनसे कहीं गाँव नहीं बसते; उसी प्रकार संयोग-वियोगरूप ऐसे क्षणभंगुर पुद्गल-कर्मों से चेतन्य का नगर नहीं बसता । आत्मा को ये कर्म के संयोग-वियोग से भिन्न जानो ।

अण्णु जि जीउ म चिन्ति तुहं जइ वीहउ दुक्खस्स ।

तिलतुसमित्तु वि सल्लडा वेयण करइ अवस्स ॥74॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! यदि तू दु:ख से भयभीत है तो अन्य (कर्म-नोकर्म) को जीव मत मान तथा अन्य का चिंतन मत कर, क्योंकि तिल के तुषमात्र भी शल्य अवश्य वेदना करती है ।

अप्पाए वि विभावियइं णासइ पाउ खणेण ।

सुरु विणासइ तिमिरहरु एक्कल्लउ णिमिसेण ॥75॥

अन्वयार्थ : जैसे सूर्य, घोर अन्धकार को एक निमेषमात्र में नष्ट कर देता है, उसीप्रकार आत्मा की भावना करने से पाप एक क्षण में नष्ट हो जाते हैं ।

जोइय हियडइ जासु पर एकु जि णिवसइ देउ ।

जम्मणमरणविवज्जियउ तो पावद परलोउ ॥76॥

अन्वयार्थ : हे योगी ! जिसके हृदय में जन्म-मरण से रहित एक परमदेव निवास करता है, वह नरलोक (सिद्ध पद) को प्राप्त करता है ।

कम्मु पुशइउ जो खवइ अहिणव पेसु ण देइ ।

परमणिरंजणु जो णवइ सो परमप्पउ होइ ॥77॥

अन्वयार्थ : जो जीव पुराने कर्मों को खपाता है, नये कर्मों का प्रवेश नहीं होने देता तथा जो परम निरंजन-तत्त्व को नमस्कार करता है, वह स्वयं परमात्मा बन जाता है ।

पाउ वि अप्पहिं परिणवइ कम्मइं ताम करेइ ।

परमणिरंजणु जाम ण वि णिम्मलु होइ मणेइ ॥78॥

अन्वयार्थ : आत्मा जबतक निर्मल होकर परम निरंजन स्वरूप को नहीं जानता, तब तक ही वह पापरूप परिणमता है और तभी तक

कर्मों को बांधता है ।
अण्णु णिरंजणु देउ पर अप्पा दंसणणाणु ।
अप्पा सच्चउ मोक्खपहु एहउ मूढ वियाणु ॥79॥
अन्वयार्थ : आत्मा ही उत्कृष्ट निरंजनदेव है, आत्मा ही दर्शन-ज्ञान है, आत्मा ही सच्चा मोक्षपथ है -- ऐसा हे मूढ ! तू जान ।
ताम कुतित्थइं परिभमइं धुत्तिम ताम करंति ।
गुरुहुं पसाएं जाम ण वि देहहं देउ मुणंति ॥80॥
अन्वयार्थ : लोग कुतीर्थ में तभी तक परिभ्रमण करते हैं और तभी तक धूर्तता करते हैं, जब तक वे गुरु के प्रसाद से देह में ही रहे हुए देव को नहीं जान लेते ।

गाथा ८१-९०

लोहिं मोहिउ ताम तुहं विसयहं सुक्ख मुणेहि ।
गुरुहं पसाएं जाम ण वि अविचल बोहि लहेहि ॥81॥
अन्वयार्थ : हे जीव ! तभी तक तू लोभ से मोहित होकर विषयों में सुख मानता है, जब तक गुरु-प्रसाद से अविचल बोध को नहीं पाता ।
उप्पज्जइ जेण विबोहु ण वि बहिरण्णउ तेण णाणेण ।
तइलोयपायडेण वि असुंदरो जत्थ परिणामो ॥82॥
अन्वयार्थ : जिससे विशेष बोध (भेदज्ञान) उत्पन्न न हो ऐसे तीनलोक संबंधी ज्ञान से भी जीव बहिरात्मा ही रहता है और उसका परिणाम असुन्दर (अच्छा नहीं) है ।
तासु लीह दिढ दिज्जइ जिम पढ़ियइ तिम किज्जइ ।
अह व ण गम्मागम्मइ तासु भजेसहिं अप्पुणु कम्मइं ॥83॥
अन्वयार्थ : आत्मा और कर्म के बीच में भेद-ज्ञान की दृढ़ रेखा खींच लेना चाहिये; चित्त को इधर-उधर भटकाना नहीं चाहिये । ऐसा करनेवाले की आत्मा में से कर्म दूर हो जाते हैं ।
वक्खाणडा करंतु बुहु अप्पि ण दिण्णु णु चित्तु ।
कणहिं जि रहिउ पयालु जिम पर संगहिउ बहुत्तु ॥84॥
अन्वयार्थ : जो विद्वान आत्मा का व्याख्यान तो करते हैं, परन्तु अपना चित्त उसमें नहीं लगाते तो उन्होंने अनाज के कणों से रहित बहुत-सा पयाल संग्रह किया ।
पंडिय पंडिय पंडिया कण छंडिवि तुस कंडिया ।
अत्थे गंथे तुट्ठो सि परमत्थु ण जाणहि मूढो सि ॥85॥
अन्वयार्थ : पंडितों में पंडित ऐसा हे पंडित ! यदि तू ग्रंथ और उसके अर्थों में ही संतुष्ट हो गया है, किन्तु परमार्थ-आत्मा को जानता नहीं तो तू मूर्ख है; तूने कण को छोडकर तुष को ही कूटा है ।
अक्खरडेहिं जि गव्विया कारणु ते ण मुणंति ।
वंसविहत्था डोम जिम परहत्थडा धुणंति ॥86॥
अन्वयार्थ : जो मोक्ष के सच्चे कारण को तो जानते नहीं और मात्र अक्षर-ज्ञान से ही गर्वित होकर घूमते हैं, वे तो वंश-रहित वेश्यापुत्र के जैसे जहाँ-तहाँ हाथ लंबाकर भीख माँगते भटकते हैं ।
णाणतिडिक्की सिक्खि वढ किं पढियइं बहुएण ।
जा सुंधुक्की णिड्डहइ पुण्णु वि पाउ खणेण ॥87॥
अन्वयार्थ : हे वत्स ! बहुत पढ़ने से क्या है ? तू ऐसी ज्ञान-चिनगारी प्रगटाना सीख ले, जो प्रज्वलित होते ही पुण्य और पाप को क्षणमात्र में भस्म कर दे ।
सयलु वि को वि तडप्फडइ सिद्धत्तणहु तणेण ।

सिद्धत्तणु परि पावियइ चित्तहं णिम्मलएण ॥88॥
अन्वयार्थ : सभी कोई सिद्धत्व के लिये तड़फड़ाते हैं, पर उस सिद्धत्व की प्राप्ति चित्त की निर्मलता से ही होती है ।
केवलु मलपरिवज्जियउ जहिं सो ठाइ अणाइ ।
तस उरि सतु जगु संचरह परइ ण कोइ वि जाइ ॥89॥
अन्वयार्थ : मल-रहित ऐसे केवली अनादि स्थित हैं, उनके अंतर में (ज्ञान में) समस्त जगत् संचार करता है, जिसके बाहर कोई भी नहीं जा सकता ।
अप्पा अप्पि परिट्ठियएउ कहिं मि ण लग्गइ लेउ ।
सव्वु जि दोसु महंतु तसु जं पुणु होइ अछेउ ॥90॥
अन्वयार्थ : जब आत्मा आत्मा में ही स्थित हो जाता है, तब उसे कोई लेप (मल) नहीं लगता और उसके जो कोई महादोष हों, वे भी सब नाश हो जाते हैं ।

गाथा ९१-१००

जोइय जोएं लइयइण जइ धंधइ ण पडिसि ।
देहकुडिल्ली परिखिवइ तुहुं तेमइ अच्छेसि ॥91॥
अन्वयार्थ : हे योगी ! योग लेकर फिर यदि तू धंधे में नहीं पडेगा तो जिसमें तू रहता है, उस देहरूप कुटीर का क्षय हो जायगा और तू तब भी अक्षय रहेगा ।
अरि मणकरह म रइ करहि इंदियविसयसुहेण ।
सुक्खु णिरंतरु जेहिं ण वि मुच्चहि ते वि खणेण ॥92॥
अन्वयार्थ : रे मनरूपी हाथी ! तू इन्द्रिय-विषय के सुखों में रति मत कर । जिनसे निरंतर सुख नहीं मिलता, उनको तू क्षणमात्र में छोड़ दे ।
तूसि म रूसि म कोहु करि कोहें णासइ धम्मु ।
धम्मिं णट्ठिं णरयगइ अह गउ माणुसजम्मु ॥93॥
अन्वयार्थ : न राजी हो, न रोष कर, न क्रोध कर; क्रोध से धर्म का नाश होता है; धर्म के नाश होने से नरकगति होती है तथा मनुष्य-जन्म निष्फल जाता है ।
हत्थ अहुट्ठहं देवली वालहं णा हि पवेसु ।
संतु णिरंजणु तहिं वसइ णिम्मलु होइ गवेसु ॥94॥
अन्वयार्थ : साढ़े तीन हाथ की देह में, बालक जिसमें प्रवेश नहीं कर सकते, संत-निरंजन बसता है । तू निर्मम होकर उसको ढूँढ ।
अप्पापरहं ण मेलयउ मणु मोडिवि सहस त्ति ।
सो वढ जोइय किं करइ जासु ण एही सत्ति ॥95॥
अन्वयार्थ : मन को सहसा मोड लेने से (स्व-सन्मुख करने से) आत्मा और पर का मिलान नहीं होता; परन्तु जिसकी इतनी भी शक्ति नहीं है वह मूर्ख योगी क्या करेगा ?
सो जोयउ जो जोगवइ णिम्मलि जोइय जोइ ।
जो पुणु इंदियवसि गयउ सो इह सावयलोइ ॥96॥
अन्वयार्थ : योगी जो निर्मल ज्योति को जगाते हैं, वही योग है, किन्तु जो इन्द्रियों के वश हो जाते हैं वे तो ये श्रावकलोग हैं ।
बहुयइं पढियइं मूढ पर तालू सुक्कई जेण ।
एक्कु जि अक्खरु तं पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण ॥97॥
अन्वयार्थ : हे जीव ! तू बहुत पढ़ा......पढ़-पढ़कर तेरा तालू भी सुख गया, फिर भी तू मूर्ख ही रहा । अब तू एक ही उस अक्षर को पढ़ कि जिससे शिवपुरी में गमन हो ।
अन्तो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा ।

ते णवर सक्खियव्वं जिं जरमरणक्खयं कुणहि ॥98॥

अन्वयार्थ : श्रुतियों का अंत नहीं है, काल थोड़ा है और हम मंदबुद्धि हैं; अतः केवल इतना ही सीखना योग्य है कि जिससे जन्म-मरण का क्षय हो ।

णिल्लक्खणु इत्थीबाहिरउ अकुलीणउ महु मणि ठियउ ।
तसु कारणि आणी माहू जेण गवंगउ संठियउ ॥99॥

अन्वयार्थ : निर्लक्षण (इंद्रियग्राह्य लक्षणों से पार), स्त्री से रहित और जिसके कोई कुल नहीं है, ऐसा आत्मा मेरे मन में बस गया है; जिससे अब इन्द्रिय-विषयों में संस्थित मेरा मन वहाँ से पीछे हट गया है ।

हुई सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु ।
एकहिं अंगि वसंतयहं मिलिउ ण अंगहिं अंगु ॥100॥

अन्वयार्थ : मैं सगुण हूँ ओर मेरा पियु तो निर्गुण, निर्लक्षण तथा नि:संग है; अतः वे एक ही अंग में बसते हुए भी उनका एक दूसरे के अंग से अंग का मिलन नहीं होता ।

गाथा १०१-११०

सव्वहिं रायहिं छहरसहिं पंचहिं रूवहिं चित्तु ।
जासु ण रंजिउ भुवणयलि सो जोइय करि मित्तु ॥101॥

अन्वयार्थ : जिसका चित्त सर्व रागों में, छह रसों में व पांच रूपों में रंजित नहीं है ऐसे योगी को है जीव! तू इस भुवनतल में अपना मित्र बना ।

तव तणुअं मि सरीरयहं संगु करि ठ्ठिउ जाहं ।
ताहं वि मरणदवक्कडिय दुसहा होइ णराहं ॥102॥

अन्वयार्थ : जिसका तप थोड़ा भी शरीर का संग करके स्थित है (जो तप करते हुए भी शरीर का महत्त्व रखता है) उस मनुष्य को भी मरण के दुस्सह दावानल सहन करना पड़ता है ।

देह मलंतहं सवु गवइ मइ सुइ धारण धेउ ।
तहिं तेहइं वढ अवसरहिं विरला सुमरहिं देउ ॥103॥

अन्वयार्थ : जब देह गलती है, तब मति-श्रुत की धारणा-ध्येय सब गलने लगता है; हे वत्स! तब उस अवसर में देव का स्मरण तो कोई विरले ही करते हैं ।

उम्मणि थक्का जासु मणु भग्गा भूवहिं चारू ।
जिम भावइ तिम संचरउ ण वि भउ ण वि संसारु ॥104॥

अन्वयार्थ : जिसका पवित्र मन संसार के सुन्दर पदार्थों से भागकर, मन से पार ऐसे चैतन्य-स्वरूप में लग गया, फिर वह कहीं भी संचार करे तो भी उसे न भय है, न संसार ।

जीव वहंति णरयगइ अभयपदाणें सग्गु ।
वे पह जवला दरिसियइं जहिं भावइ तहिं लग्गु ॥105॥

अन्वयार्थ : जीवों के वध से नरकगति होती है और अभय प्रदान करने से स्वर्ग । जाने के लिये दो पथ तुमको बतला दिये । अब इनमे से जो अच्छा लगे, उसमें तुम लग जाओ ।

सुक्खअडा दुइ दिवहडइं पुणु दुक्खहं परिवाडि ।
हियडा हउं पइं सिक्खवमि चित्त करिज्जहि वाडि ॥106॥

अन्वयार्थ : इस संसार में इन्द्रिय सुख तो दो दिन के हैं, फिर तो दुःखों की ही परिपाटी है । इस कारण हे हृदय ! मैं तुझे सिखाता हूँ कि तेरे चित्त को तू बाड़ लगा (मर्यादा में रख ओर उसको सच्चे मार्ग मे लगा) ।

मूढा देह म रज्जियइ देह ण अप्पा होइ ।

देहहं भिण्णु णाणमउ सो तुहुं अप्पा जोइ ॥107॥

अन्वयार्थ : हे मूढ ! देह में रंजायमान न हो; देह आत्मा नहीं है । देह से भिन्न ज्ञानमय ऐसे आत्मा को तू देख ।

जेहा पाणहं झुंपडा तेहा पुत्तिए काउ ।

तित्थु जि णिवसइ पाणिवइ तहिं करि जोइय भाउ ॥108॥

अन्वयार्थ : अरे! यह मूर्त काया तो घास की झोपड़ी जैसी है; हे योगी ! उसमें जो प्राणवंत-चेतन निवास करता है, उसकी तू भावना कर ।

मूलु छंडि जो डाल चडि कहं तह जोयाभासि ।

चीरु ण वुणणहं जाइ वढ विणु उट्ठियइं कपासि ॥109॥

अन्वयार्थ : मूल को छोड़कर जो डाल पर चढ़ना चाहता है, उसको योग-अभ्यास कैसा ? हे वत्स ! जैसे बिना ओटे हुए कपास में से वस्त्र नहीं बुना जाता, उसीप्रकार मूलगुण के बिना उत्तरगुण नहीं होते ।

सव्ववियप्पहं तुठ्टहं चेयणभावगयाहं ।

कीलइ अप्पु परेण सिहु णिम्मलझाणठियाहं ॥110॥

अन्वयार्थ : जिसके सर्व विकल्प छूट गये हैं और जो चेतनभाव को प्राप्त हुआ है, वह आत्मा निर्मल ध्यान में स्थित होकर परमात्मा के साथ केलि करता है ।

गाथा १११-१२०

अज्जु जिणिज्जइ करहुलउ लइ पइं देविणु लक्खु ।

जित्थु चडेविणु परममुणि सव्व गयागय मोक्खु ॥111॥

अन्वयार्थ : हे भव्य! परम देव को लक्ष में लेकर, शीघ्र आज ही तू मस्त हाथी को जीत ले कि जिस पर चढ़कर परम मुनि सर्व गमनागमन से छूटकर मोक्षपुरी में पहुँच जाते हैं ।

करहा चरि जिणगुणथलिहिं तव विल्लडित पगाम ।

विसमी भवसंसारगई उल्लूरियहि ण जाम ॥112॥

अन्वयार्थ : हे मस्तहाथी ! हे करभा ! इस विषम भवसंसार की गति का जबतक तू उच्छेदन न कर डाले, तबतक निजगुणरूपी बाग मे मुक्तरूप से तपरूपी वेल को तू चर.....तेरे बन्धन (पैगाम) को खोल दिया है ।

तव दावणु वय भियमडा समदम कियउ पलाणु ।

संजमघरहं उमाहियउ गउ करहा णिव्वाणु ॥113॥

अन्वयार्थ : जिसको तपरूपी दामन-लगाम है, व्रतरूपी चौकड़ा है तथा शम-दमरूपी पलाण है--ऐसे ऊँट पर बैठकर संयमधर निर्वाण को गये ।

एक्क ण जाणहि वट्टडिय अवरु ण पुच्छहि कोइ ।

अहुवियद्दहं डुंगरहं णर भंजंता जोइ ॥114॥

अन्वयार्थ : एक तो स्वयं मार्ग को जानते नहीं और दूसरे किसी से पूछते भी नहीं, ऐसे मनुष्य वन-जंगल तथा पहाड़ों में भटक रहे हैं, उनको तू देख ।

वट्ट जु छोडिवि मउलियउ सो तरुवरू अक्यत्थु ।

रीणा पहिय ण वीसमिय फलहिं ण लायउ हत्थु ॥115॥

अन्वयार्थ : जो तरुवर रास्ते को छोड़कर दूर फला-फूला है वह नकामा है, न तो कोई थके हुए पथिक वहाँ विश्राम लेते हैं और न उसके फलों को कोई हाथ लगाते हैं । (उसीप्रकार मार्गभ्रष्ट जीवों का वैभव बेकार है।)

छहदंसणधंधइ पडिय मणहं ण फिट्टिय भंति ।

एक्क देउ छह भउ किउ तेण ण मोक्खहं जंति ॥116॥

अन्वयार्थ : षट्दर्शन के धन्धे में पड़े हुए अज्ञानियों के मन की भ्रान्ति न मिटी । अरे रे ! एक देव के छह भेद किये, इससे वे मोक्ष नहीं

जाते ।

भारत का आस्तिक दर्शन -- न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदांत) में बाँटा गया है ।

1. न्याय दर्शन - (गौतम ऋषि) । बुद्धि को सर्वोच्च स्थान, बुद्धि के द्वारा सब कुछ जाना जा सकता है ।

2. वैशेषिक - दर्शन (कणाद) परमाणुवाद, परमाणु जगत के उपादान कारण । परमाणु एकत्रित व पृथक होते रहते हैं । यह कार्य अनंत काल से चला आ रहा है । अग्नि व पृथ्वी के परमाणुओं द्वारा ईश्वर के ध्यान-मात्र से ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो जाता है ।

3. सांख्य - (कपिल मुनि) पच्चीस तत्व, जिनमें पुरुष व प्रकृति मुख्य हैं । जब तक पुरुष प्रकृति से अपना पृथकत्व नहीं जान लेता तब तक संसार का नाटक चला करता है ।

4. योग - (पतंजलि मुनि) चित्त वृत्ति के निरोध के लिए अष्टांग योग की साधना ।

5. पूर्व मीमांसा (कर्म मीमांसा) - (जैमिनि मुनि) नित्य यज्ञादि कर्मकांड करने से ही सच्ची मुक्ति ।

6. उत्तर मीमांसा (वेदांत) (बादरायण या व्यास मुनि) प्रमाण दो हैं : श्रुति (प्रत्यक्ष) व स्मृति (अनुमान) । इस जगत् में ब्रह्म ही सत्य है । पुरुष व प्रकृति उसी के दो परिवर्तित स्वरूप हैं । यह संसार ब्रह्म के संकल्प का परिणाम है । यह उसकी लीला है ।

अप्पा मल्लिवि एक्कु पर अण्णु वइरिउ कोइ ।
जेण विणिम्मिय कम्मडा जइ पर फेडइ सोइ ॥117॥

अन्वयार्थ : एक अपने आत्मा को छोड़कर अन्य कोई तेरा वैरी नहीं है; अतः हे योगी ! जिस भाव से तूने कर्मों का निर्माण किया है, उस परभाव को तू मिटा दे ।

जइ वारउं तो तहिं जि पर अप्पहं मणु ण धरेइ ।
विसयहं कारणि जीवडउ णस्यहं दुक्ख सहेइ ॥118॥

अन्वयार्थ : यद्यपि मैं रोकता हूँ, तो भी मन पर मे जाता है । वह मन अपने में विषय को धारण करता है, परन्तु आत्मा को धारण नहीं करता । मन के द्वारा विषयों में भ्रमण करने के कारण जीव नरकों के दुःखों को सहता है ।

जीव म जाणहि अप्पणा विसया होसहिं मज्झु ।
फल किं पाकहि जेम तिम दुक्ख करेसहिं तुज्झ ॥119॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू ऐसा मत जान कि ये विषय मेरे हैं और मेरे रहेंगे । अरे ! ये तो किम्पाक फल की तरह तुझे दुःख ही देंगे ।

विसया सेवहि जीव तुहं दुक्खहं साहिक एण ।
तेण णिरारिउ पज्जलइ हुववहु जेम घिएण ॥120॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू विषयों का सेवन करता है, किन्तु वे तो दुःख के ही देनेवाले हैं । जैसे घी के डालने से अग्नि प्रज्वलित होती है, वैसे विषयों के द्वारा तू बहुत जल रहा है ।

गाथा १२१-१३०

असरीरहं संधाणु किउ सो धाणुक्कु णिरुत्तु ।
सिवतत्तिं जिं संधियउ सो अच्छइ णिच्चिन्तु ॥121॥

अन्वयार्थ : जिसने अशरीरी का सन्धान किया, वही सच्चा धनुर्धारी है; और चित्त को एकाग्र करके जिसने शिव-तत्त्व को साध लिया, वही सच्चा निश्चिंत है ।

हलि सहि काइं करइ सो दवाणु, जहिं पडिबिंबु ण दिसइ अप्पणु ।
धंधवालु मो जगु पडिहासइ, धरि अच्छंतु ण घरवइ दीसइ ॥122॥

अन्वयार्थ : अली सखी ! भला ऐसे दर्पण को क्या करें जिसमें आत्मा का प्रतिबिंब न दिखे ? मुझे तो यह जगत बहावरे (सोए हुए) सरीखा भासता है कि जिसे ग्रहपति घर में होते हुवे भी उसका दर्शन नहीं होता ।

जसु जीवंतहं मणु मुवउ पंचेंदियहं समाणु ।
सो जाणिज्जइ मोक्कलउ लद्धउ पहु णिव्वाणु ॥123॥

अन्वयार्थ : जिसके जीते-जी पांच इन्द्रिय सहित मन मर गया, उसको मुक्त ही जानो; निर्वाणपथ उसने प्राप्त कर लिया ।

किं किज्जइ बहु अक्खरहं जे कालिं खउ जंति ।
जेम अणक्खरु संतु मुणि तव वढ मोक्खु कहंति ॥124॥

अन्वयार्थ : हे वत्स ! थोडे ही काल में क्षय हो जाते हैं ऐसे बहुत से अक्षरों को तुझे क्या करना है ? मुनि तो जब अनक्षर (शब्दातीत-इन्द्रियातीत) हो जाते हैं, तब मोक्ष को पाते हैं ।

छहदंसणगंथि बहुल अवरुप्परु गज्जंति ।
जं कारणु तं इक्कु पर विवरेरा जाणंति ॥125॥

अन्वयार्थ : षट्दर्शन के ग्रंथ एक-दूसरे पर बहुत गरजते हैं; उन सबसे परे मोक्ष का जो एक कारण है, उसे तो कोई विरले ही जानते हैं ।

सिद्धंतपुराणहिं वेय वढ बुज्झतहं णउ भंति ।
आणंदेण व जाम गउ ता वढ सिद्ध कहंति ॥126॥

अन्वयार्थ : हे वत्स ! तू सिद्धान्त को तथा पुराण को जान, उसके जानने से भ्रान्ति नहीं रहती । हे वत्स ! जो आनन्द-स्वरूप मे जम गये, वे सिद्ध कहलाते हैं ।

सिवसत्तिहिं मेलावडा इहु पसुवाहमि होइ ।
भिण्णिय सत्ति सिवेण सिहु विरला बुज्जइ कोइ ॥127॥

अन्वयार्थ : इस लोक में शिव और शक्ति का मेला (मिलन) तो पशुओं में भी होता है; परन्तु शिव से भिन्न शक्तिवाले शिव को तो कोई विरला ही पहिचानता है। (लोग तो पशु आदि में भी व्यापक ऐसे सर्व-व्यापी शिव को मानते हैं, परन्तु उससे भिन्न अपने आत्मा को ही शिव-स्वरूप से तो कोई विरला ज्ञानी ही पहिचानता है ।)

भिण्णउ जेहिं ण जाणियउ णियदेहहं परमत्थु ।
सो अंधउ अवरहं अंधयहं किम दरिसावइ पंथु ॥128॥

अन्वयार्थ : जिसने देह से भिन्न निज परमार्थ-तत्व को नहीं जाना, वह अन्धा दूसरे अन्धे को मुक्तिपंथ कैसे दिखलायेगा ?

जोइय भिण्णउ झाय तुहुं देहहं ते अप्पाणु ।
जइ देहु वि अप्पउ मुणहि ण वि पावहि णिव्वाणु ॥129॥

अन्वयार्थ : हे योगी ! तुम देह से भिन्न आत्मा का ध्यान करो । यदि देह को अपना मानोगे तो तुम निर्वाण नहीं पा सकोगे ।

छत्तु वि पाइ सुगुरुवडा सयलकालसंतावि ।
णियदेहडइ वसंतयहं पाहण वाडि वहाइ ॥130॥

अन्वयार्थ : सुगुरु की महान छत्रछाया पाकर भी हे जीव ! तू सकल काल संताप को ही प्राप्त हुआ । परमात्मा निज-देह में बसते हुए भी तूने पत्थर के ऊपर पानी ढोला ।

गाथा १३१-१४०

मा मुट्टा पसु गरुवडा सयल काल झंखाइ ।
णियदेहहं मि वसंतयहं सुण्णा मढ सेवाइ ॥131॥

अन्वयार्थ : हे वत्स ! सुगुरु का संग छोडकर तू सदा काल झंखना (व्यग्रता) मत कर । परमात्मा निज-देह में बसता हुआ भी तू शून्य मठ का सेवन क्यों करता है ?

सयवयल्लहिं छहरसहिं पंचहिं रुवहिं चित्तु ।
जासु ण रंजिउ भुवणयलि सो जोइय करि मित्तु ॥132॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! इस भुवनतल में तू ऐसे योगी को अपना मित्र बना कि जिसका चित्त राग के कलकल से, छह रस से तथा पांच रूप से रंजित न हो ।

तोडिवि सयल वियप्पडा अप्पहं मणु वि धरेहि ।

सोक्खु णिरंतरु तहिं लहहि लहु संसारु तरेहि ॥133॥
अन्वयार्थ : समस्त विकल्पों को तोडकर मन को आत्मा में स्थिर कर, वहां तुझे निरंतर सुख मिलेगा और तू संसार को शीघ्र तिर जायेगा ।
अरि जिय जिणवरि मणु ठवहि विसयकसाय चएहि ।
सिद्धिमहापुरि पइसरहि दुक्खहं पाणिउ देहि ॥134॥
अन्वयार्थ : अरे जीव ! तेरे मन में जिनवर को स्थाप, विषय-कषाय को छोड़, सिद्ध-महापुरी में प्रवेश कर और दुःखों को पानी में जलांजलि दे ।
मुंडियमुंडिय मुंडिया सिरु मुंडिउ चित्तु ण मुंडिया ।
चित्तहं मुंडणु जि कियउ संसारहं खंडणु तिं कियउ ॥135॥
अन्वयार्थ : मूंड़ मुंड़ानेवाले में श्रेष्ठ हे मुंढका ! तूने शिर का तो मुंडन किया, परंतु चित्त को न मुंड़ा । जिसने चित्त का मुण्ड़न किया, उसने संसार का खंड़न कर डाला ।
अप्पु करिज्जइ काइं तसु जो अच्छई सव्वंगओ संते ।
पुण्णविसज्जणु काइं तसु जो हलि इच्छइ परमत्थे ॥136॥
अन्वयार्थ : सर्वांग में जो सुस्थित है, उस धर्मात्मा को पाप क्या करेगा ? उसी प्रकार जो परमार्थ का इच्छुक है, उस सज्जन को पुण्य का भी क्या काम है ?
गमणागमणविवज्जियउ जो तइलोयपहाणु ।
गंगइ गरुवइ देउ किउ सो सण्णाणु अयाणु ॥137॥
अन्वयार्थ : जो गमनागमन से रहित है ओर तीन-लोक में प्रधान हैं ऐसे देव की (तीर्थकर देव की) की गरवी गंगा सुज्ञ पुरुषों के लिये सम्यग्ज्ञान प्रगट करनेवाली है ।
पुण्णेण होइ विहओ विहवेण मओ मएण मइमोहो ।
मइमोहेण य णस्यं तं पुण्ण अम्ह मा होउ ॥138॥
अन्वयार्थ : पुण्य से विभव मिलता है, विभव से मद होता है, मद से मतिमोह होता है और मतिमोह से नरक होता है । ऐसा पुण्य हमें न हो ।
कासु समाहि करउं को अंचउं ।
छोपु अछोपु भणिवि को वंचउं ॥
हल सहि कलह केण सम्माणउं ।
जहिं जहिं जोवउं तहिं अप्पणउ ॥139॥
अन्वयार्थ : मैं जहाँ-जहाँ देखता हूँ, वहाँ सर्वत्र आत्मा ही दिखता है, तब फिर में किसकी समाधि करूँ और किसको पुजूँ ? छूत-अछूत कहकर किसका तिरस्कार करूँ ? हर्ष या क्लेश किसके साथ करूँ ? और सन्मान किसका करूँ ?
जइ मणि कोहु करिवि कलहीजइ ।
तो अहिसेउ णिरंजणु कीजइ ॥
जहिं जहिं जोयउ तहिं णउ को वि उ ।
हउं ण वि कासु वि मज्झु वि को वि उ ॥140॥
अन्वयार्थ : यदि मन क्रोधादि से कलुषित हो जाय तो निरंजन तत्त्व की भावनारूप निर्मल जल से आत्मा का अभिषेक करना कि जहाँ-जहाँ देखूँ वहाँ कोई भी मेरा नहीं है; न मैं किसी का हूँ, न कोई मेरा है ।

गाथा १४१-१५०

णमिओ सि ताम जिणवर जाम ण मुणिओ सि देहमज्झम्मि ।
जइ मुणिउ देहमज्झाम्मि ता केण णवज्जए कस्स ॥141॥

अन्वयार्थ : हे जिनवर ! जब तक मैंने देह में रहे हुए 'जिन' को न जाना, तब तक तुझे नमस्कार किया; परन्तु जब देह में ही रहे हुए 'जिन' को जान लिया, तब फिर कौन किसको नमस्कार करे ?

ता संकप्पवियप्पा कम्मं अकुणंतु सुहासुहाजणयं ।
अप्पसरुवासिद्धी जाम ण हियए परिफुरइ ॥142॥

अन्वयार्थ : जीव को संकल्प-विकल्प तब तक रहता है, जब तक कि शुभाशुभ जनक कर्म का अकर्ता होकर, उसके अन्तर मे आत्मस्वरूप की सिद्धि स्फुरायमान न हो जावे ।

गहिलउ गहिलउ जणु भणइ गहिलउ मं करि खोहु ।
सिद्धिमहापुरि पइसरइ उप्पाडेविणु मोहु ॥143॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! लोग तेरे को 'हठीला-हठीला' (घेला /पागल) कहते हैं तो भले कहो, किन्तु हे हठी ! तू क्षोभ मत करना । तू मोह को उखाड कर सिद्धि-महापुरी में चले जाना ।

अवधउ अक्खरु जं उप्पज्जइ।
अणु वि किं पि अण्णाउ ण किज्जइ॥
आयइं चित्तिं लिहि मणु धारिवि ।
सोउ णिचिंतउ पाय पसारिवि ॥144॥

अन्वयार्थ : जीवों का वध न करो और अन्य के साथ जरा भी अन्याय न करो, इतनी बात चित्त में लिख लो और मन में धारण कर लो -- बस, फिर तुम निश्चिन्त पांव पसार कर सोओ ।

कि बहुएं अडवड वडिण देह ण अप्पा होइ ।
देहहं भिण्णउ णाणमउ सो तुहुं अप्पा जोइ ॥145॥

अन्वयार्थ : बहुत अटपट बड़बड़ाने से क्या ? देह आत्मा नहीं है । देह से भिन्न जो ज्ञानमय है वही तू आत्मा है । हे योगी ! उसको तू देख !

पोत्था पढणिं मोक्खु कहं मणु वि असुद्धउ जासु ।
बहुयारउ लुब्दउ णवइ मूलट्ठिउ हरिणासु ॥146॥

अन्वयार्थ : मन ही जिसका अशुद्ध है, उसे पोथा पढ़ने से भी मोक्ष कैसा ? वैसे तो हिरन का वध करनेवाला पारधी भी हिरन के सामने नमता है । (जैसे भावशुद्धि से रहित उस पारधी का वह नमन, सच्चा नमन नहीं है, वैसे भावशुद्धि से रहित शास्त्रपठन भी मोक्ष का कारण नहीं होता । अतः हे जीव ! तू भावशुद्धि कर ।)

दयाविहीणउ धम्मडा णाणिय कह वि ण जोइ ।
बहुएं सलिलविरोलियइं करु चोप्पडा ण होइ ॥147॥

अन्वयार्थ : जैसे बहुत पानी के विलोडने से हाथ चिकना नहीं होता (अर्थात् घी नहीं निकल पाता), वैसे दया से रहित धर्म ज्ञानियों ने कहीं भी नहीं देखा ।

भल्लाण वि णासंति गुण जहिं सहु संगु खलेहिं ।
वइसाणरु लोहहं मिलिउ पिट्टिज्जइ सुघणेहिं ॥148॥

अन्वयार्थ : दुष्टजन (खल) के संग से भले पुरुषों के गुण भी नष्ट हो जाते हैं, जैसे लोहे का संग करने से वैश्वानर (अग्निदेव) भी बड़े-बड़े घनों से पीटे जाते हैं ।

हुयवहि णाइ ण सक्कियउ धवलतणु संखस्स ।
फिट्टीसइ मा भंति करि छुड्डु मिलिया खयरस्स ॥149॥

अन्वयार्थ : अग्नि भी शंख के धवलत्व को नष्ट नहीं कर सकती, परन्तु यदि वह स्वयं खेर (काई) से मिल जाय तो उसका धवलत्व मिट जाता है, इसमें भ्रान्ति न कर। (अतः कुसंगति न करना।)

संखसमुद्दहिं मुक्कियए एही होइ अवत्थ ।

जो दुव्वाहहं चुंबिया लाएविणु गलि हत्थ ॥150॥

अन्वयार्थ : शंख के पेट में रहे हुए मुक्ताफल मोती के कारण से उसकी ऐसी हालत होती है कि धीवर-मच्छीमार उसका गला फाडकर उस मोती को बाहर निकालता है । (इस प्रकार परिग्रहसे जीव दुःखी होता है ।)

गाथा १५१-१६०

छंडेविणु गुणरयणणिहि अग्घथडिहिं घिप्पन्ति ।

तहिं संखाहं विहाणु पर फुक्किज्जंति ण भंति ॥151॥

अन्वयार्थ : गुणरत्ननिधि (समुद्र) का संग छोडने से शंख की कैसी हालत होती है ? अर्थात् बाजार में उसका विक्रय होता है और बाद में किसी के मुँह से फूंका जाता है, इसमें भ्रान्ति नहीं । (गुणीजन का संग छोड़ने से ऐसा बेहाल होता है।)

महुयर सुरतरुमंजरिंहिं परिमलु रसिवि हयास ।

हियडा फुट्टिवि कि ण मुयउ ढंढोलंतु पलास ॥152॥

अन्वयार्थ : हे हताश मधुकर ! कल्पवृक्ष की मंजरी का सुगंध-युक्त रस चख करके भी अब तू गंध-रहित पलाश के उपर क्यों भ्रमता फिरता है ?

अथवा अरे! ऐसा करते हुए तेरा हृदय फट क्यों नहीं गया और तू मर क्यों नहीं गया ! (अत्यंत मधुर चैतन्यरस का स्वाद लेने के बाद अन्य नीरस विषयों में उपयोग का भ्रमण हो, उसमें ज्ञानी को मरण जैसा दुःख लगता है।)

मुंडु मुंडाइवि सिक्ख धरि धम्महं वद्धी आस ।

णवरि कुडुंबउ मेलियउ छुड्डु मिल्लिया परास ॥153॥

णग्गत्तणि जे गव्विया विग्गुत्ता ण गणंति ।

गंथहं बाहिरभिंतरिहिं एक इ ते ण मुयंति ॥154॥

अन्वयार्थ : मूंड मुंडाया, उपदेश लिया, धर्म की आशा बढ़ी एवं कुटम्ब को छोड़ा, पर की आशा भी छोड़ी -- इतना सब करने पर भी जो नग्नत्व से गर्वित है और त्रिगुप्ति की परवाह नहीं करता उसने तो बाह्य या अंतरंग एक भी ग्रंथ (परिग्रह) को नहीं छोडा ।

अम्मिय इहु मणु हत्थिया विंझह जंतउ वारि ।

ते भंजेसइ सीलवणु पुणु पडिसइ संसारि ॥155॥

अन्वयार्थ : अरे ! इस मनरूपी हाथी को विंध्य-पर्वत की ओर जाने से रोको, अन्यथा वह शील के वन को तोड़ देगा तथा जीव को संसार में पटक देगा ।

जे पढिया जे पंडिया जाहिं मि माणु मरट्टु ।

ते महिलाण हि पिडि पडिय भमियहं जेम घरट्टु ॥156॥

अन्वयार्थ : जो पढ़े-लिखे हैं, जो पंडित हैं, जो मान-मर्यादावाले हैं, वह भी महिलाओं के पिण्ड में पढ़कर चक्की के पाट के समान चक्कर काटते हैं ।

विद्धा वम्मा मुट्टिइण फसिवि लिहिहि तुहुं ताम ।

जह संखहं जीहालु सिवि सुड्डुच्छलइ ण जाम ॥157॥

अन्वयार्थ : रे विषयांध ! तबतक ही तू विषयों को मुष्टि में लेकर चख ले कि जबतक जिह्वालोलुपी शंख की तरह तेरा शरीर सड़कर शिथिल हो जाय ! (अर्थात् रे मूर्ख! क्षणभंगुर विषयो में क्यों रमता है? वे तो क्षण में सड़ जायेंगे।)

पत्तिय तोडहि तडतडह णाइं पइट्टा उट्टु ।

एव ण जाणहि मोहिया को तोडइ को तुट्टु ॥158॥

अन्वयार्थ : जैसे वन में ऊँट ने प्रवेश किया हो, वैसे हे जीव ! तू तड़ातड़ पतियों को तोड़ता है, परन्तु मोह के वशीभूत होकर तू यह नहीं जानता कि कौन तोड़ता है और कौन टूटता है ? (वनस्पति में भी तेरे जैसा जीव है--ऐसा तू जान और उसकी हिंसा न कर ।)

पत्तिय पाणिउ दब्भ तिल सव्वइं जाणि सवण्णु ।

जं पुणु मोक्खहं जाइवउ तं कारणु कु इ अण्णु ॥159॥

अन्वयार्थ : पत्ता, पानी, दर्भ (डाभ), तिल -- इन सबको तू सवर्ण (वर्णसहित, चेतन, अपने समान) जान; फिर यदि मोक्ष मे जाना हो तो उसका कारण कोई अन्य ही है, ऐसा जान । (पत्ते, पानी आदि वस्तु देव को चढ़ाने से मुक्ति नहीं मिलती, मुक्ति का कारण अन्य ही है ।)

पत्तिय तोडि म जोइया फलहिं जि हत्थु म वहि ।

जसु कारणि तोडेहि तुहुं सो सिउ एत्थु चढाहि ॥160॥

अन्वयार्थ : हे योगी ! पत्तों को मत तोड़ और फलों को भी हाथ मत लगा, किन्तु जिसके लिये तू इन्हें तोड़ता है, उसी शिव को यहाँ चढ़ा दे ! (व्यंग्य करते हुए कवि कहता है कि हे शिव-पुजारी ! वे शिव यदि पत्ते से ही प्रसन्न हो जाते हैं तो उन्हें ही वृक्ष के ऊपर क्यों नहीं चढ़ा देता ?)

गाथा १६१-१७०

देवलि पाहणु तित्थि जलु पुत्थइं सव्वइं कव्वु ।

वत्थु जु दीसइ कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु ॥161॥

अन्वयार्थ : देवालय के पाषाण, तीर्थ का जल या पोथी के सब काव्य इत्यादि जो भी वस्तु फूली-फली दिखती है, वह सब ईन्धन हो जायेंगी । (उन सबको क्षणभंगुर जानकर अविनाशी आत्मा को ध्यावो ।)

तित्थई तित्थ भमंतयहं किण्णेहा फल हूव ।

बाहिरु सुद्धउ पाणियहं अब्भिंतरु किम हूव ॥162॥

अन्वयार्थ : अनेक तीर्थों में भ्रमण करने पर भी कुछ फल तो न हुआ । बाह्य में तो पानी से शुद्ध हुआ, परन्तु अन्तर में कौन सी शुद्धि हुई ?

तित्थइं तित्थ भमेहि वढ धोयउ चम्मु जलेण ।

एहु मणु किम धोएसि तुहुं मइलउ पावमलेण ॥163॥

अन्वयार्थ : हे वत्स ! अनेक तीर्थों में तूने भ्रमण किया और शरीर के चमड़े को जल से धोया, परन्तु पापमल से मलिन ऐसे तेरे मन को तू कैसे धोयेगा ?

जोइय हियडइ जासु ण वि इक्कु ण णिवसइ देउ ।

जम्मणमरणविवज्जियउ किम पावइ परलोउ ॥164॥

अन्वयार्थ : हे योगी ! जिसके हृदय में जन्म-मरण से रहित एक देव निवास नहीं करता, वह जीव परलोक (मोक्ष) को कैसे पावेगा ?

एक्कु सुवेयइ अण्णु ण वेयइ ।

तासु चरिउ णउ जाणहिं देव इ ॥

जो अणुहवइ सो जि परियाणइ ।

पुच्छंतहं समिति को आणइ ॥165॥

अन्वयार्थ : जो एक का अनुभव करता है और अन्य को नहीं अनुभवता, उसका चरित्र देव भी नहीं जानते; जो अनुभव करता है, वही उसको अच्छी तरह जानता है । पूछताछ से इसकी संतृप्ति कैसे होवे ? (आत्मतत्त्व स्वानुभवगम्य है, वाद-विवाद से या पूछताछ से वह प्राप्त नहीं होता ।)

जं लिहिउ ण पुच्छिउ कह व जाइ ।

कहियउ कासु वि णउ चिति ठाइ ।

अह गुरुवएऐसें चिति ठाइ ।

तं तेम धरंतिहिं कहिं मि ठाइ ॥166॥

अन्वयार्थ : जानते हुए भी वह तत्त्व लिखने में नहीं आता, पूछनेवालों से कहा भी नहीं जाता; कहने से किसी के चित्त में वह नहीं ठहरता । गुरु के उपदेश से यदि किसी के चित्त में वह ठहरता है तो चित्त में धारण करनेवाले के वह सर्वत्र अन्तरंग में स्थित रहता है ।

कड्ढइ सरिजलु जलहिविपिल्लिउ ।
जाणु पवाणु पवणपडिपिल्लिउ ॥
बोह विबोहु तेम संघट्टइ ।
अवर हि उत्तउ ता णु पयट्टइ ॥167॥
अन्वयार्थ : नदी का जल जलधि के द्वारा विरुद्ध दिशा मे धकेला जाता है, बड़ा जहाज भी पवन के संघर्ष से विरुद्ध दिशा में खिंच जाता है; वैसे ज्ञान और अज्ञान का संघर्ष होने पर दूसरी ही प्रवृत्ति होती है । (कुसंग से जीव अज्ञान की ओर खिंच जाता है ।)
बरि विविहु सद्दु जो सुम्मइ ।
तहिं पइसरहुं ण वुच्चइ दुम्मइ ॥
मणु पंचहिं सिहु अत्थवण जाइ ।
मूढा परमतत्तु फुडु तहिं जि ठाइ ॥168॥
अन्वयार्थ : आकाश में जो विविध शब्द (दिव्यध्वनि का उपदेश) हैं, सुमति उसका अनुसरण करता है; किन्तु दुर्मति जीव उसका अनुसरण नहीं करता । पांच इन्द्रिय सहित मन जब अस्त हो जाता है, तब परमतत्त्व प्रगट होता है, उसमें हे मूढ ! तू स्थिर हो ।
अखइ णिरामइ परमगइ अज्ज वि लउ ण लहंति ।
भग्गी मणहं ण भंतडी तिम दिवहडा गणंति ॥169॥
अन्वयार्थ : अरे रे ! अक्षय निरामय परमगति की प्राप्ति अभी तक न हुई । मन की भ्रान्ति न मिटी और ऐसे ही दिवस बीते जा रहे हैं ।
सहजअवत्थहिं करहुलउ जोइय जंतउ वारि ।
अखइ णिरामइ पेसियउ सइं होसइ संहारि ॥170॥
अन्वयार्थ : हे योगी ! विषयों से तेरे मन को रोककर शीघ्र सहज अवस्थारूप कर; अक्षय निरामय स्वरूप में प्रवेश करते ही, स्वयं उस मन का संहार हो जायगा ।

गाथा १७१-१८०

अखइ णिरामइ परमगइ मणु घल्लेप्पिणु मिल्लि ।
तुट्टेसइ मा भंति करि आवागमणहं वेल्लि ॥171॥
अन्वयार्थ : अक्षय निरामय परमगति में प्रवेश करके मन को छोड़ दे, तेरी आवागमन की बेल टूट जाएगी, इसमे भ्रान्ति न कर ।
एमइ अप्पा झाइयइ अविचलु चित्तु धरेवि ।
सिद्धिमहापुरि जाइयइ अट्ठ वि कम्म हणेवि ॥172॥
अन्वयार्थ : इसप्रकार चित्त को अविचल स्थिर करके आत्मा का ध्यान होता है तथा अष्टकर्म को नष्टकर सिद्धि-महापुरी में गमन होता है ।
अक्खरचडिया मसिमिलिया पाढंता गय खीण ।
एक्क ण जाणी परम कला कहिं उग्गउ कहिं लीण ॥173॥
अन्वयार्थ : स्याही से लिखे गये ग्रन्थ पठन करते-करते क्षीण हो गये, परन्तु हे जीव ! तू कहाँ उत्पन्न हुआ और कहाँ लीन होगा -- इस एक परम कला को तूने न जाना । (मात्र शास्त्र-पठन किया, किन्तु आत्मा को न जाना !)
वे भंजेविणु एक्कु किउ मणहं ण चारिय विल्लि ।
तहि गुरुवहि हउं सिस्सिणी अण्णहि करमि ण लल्लि ॥174॥
अन्वयार्थ : जिन्होंने दो को मिटाकर एक कर दिया (भेद मिटाकर अभेद किया, राग-द्वेष मिटाकर समभाव किया) और विषय-कषायरूपी बेल के द्वारा मन की बेलि को चरने नहीं दिया, ऐसे गुरु की में शिष्या हूँ, अन्य किसी की लालसा मैं नहीं करती ।
अग्गइं पच्छइं दहदिहहिं जहिं जोवउं तहिं सोइ ।
ता महु फिट्टिय भंतडी अवसु ण पुच्छइ कोइ ॥175॥
अन्वयार्थ : आगे-पीछे, दशों दिशाओं में जहाँ मैं देखूँ वहाँ सर्वत्र वही है; बस, अब मेरी भ्रान्ति मिट गई, अन्य किसी से पूछना न रहा ।

जिम लोणु विलिज्जइ पाणियहं तिम जइ चित्तु विलिज्ज ।
समरसि हूवइ जीवडा काइं समाहि करिज्ज ॥176॥
अन्वयार्थ : जैसे लवण पानी में विलीन हो जाता है, वैसे चित्त चैतन्य में विलीन होने पर जीव समरसी हो जाता है । समाधि में इसके सिवाय और क्या करना है ?
जइ इक्क हि पावीसि पय अंकय कोडि करीसु ।
णं अंगुलि पय पयडणइं जिम सव्वंग य सीसु ॥177॥
अन्वयार्थ : यदि एकबार भी उस चैतन्य-देव के पद को पाऊं तो उसके साथ में अपूर्व क्रीडा करूँ । जैसे कोरे घड़े में पानी की बूँद सर्वांग प्रवेश कर जाती है, वैसे में भी उसके सर्वांग में प्रवेश कर जाऊँ ।
तित्थइं तित्थ भमंतयहं संताविज्जइ देहु ।
अप्प अप्पा झाइयइं णिव्वाणं पउ देहु ॥178॥
अन्वयार्थ : एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में भ्रमण करनेवाला जीव मात्र देह का संताप करता है । आत्मा में आत्मा को ध्याने से निर्वाणपद की प्राप्ति होती है । अतः हे जीव ! तू आत्मा को ध्याकर निर्वाण की ओर पैर बढ़ा ।
जो पइं जोइउं जोइया तित्थइं तित्थ भमेइ ।
सिउ पइं सिहुं हंहिंडियउ लहिवि ण सक्किउ तोइ ॥179॥
अन्वयार्थ : हे योगी ! जिस पद को देखने के लिये तू अनेक तीर्थों में भ्रमण करता फिरता है, वह शिवपद भी तेरे साथ ही साथ घूमता रहा, फिर भी तू उसे न पा सका ! (क्योंकि तेरे शिवपद को तूने बाहर के तीर्थों में खोजा, परन्तु अन्तर-स्वभाव में दृष्टि न करी ।)
मूढा जोवइ देवलइं लोयहिं जाइं कियाइं ।
देह ण पिच्छइ अप्पणिय जहिं सिउ संतु ठियाइं ॥180॥
अन्वयार्थ : मूढ जीव, लोगों के द्वारा बनाये गये देवल में देव को खोजते हैं, परन्तु अपने ही देह-देवल में जो शिवसन्त विराजमान है, उसको वे नहीं देखते ।

गाथा १८१-१९०

वामिय किय अरू दाहिणिय मज्झइं वहइ णिराम ।
तहिं गामडा जु जोगवइ अवर वसावइ गाम ॥181॥
अन्वयार्थ : हे योगी ! तूने बायीं ओर तथा दाहिनी ओर सर्वत्र इन्द्रिय-विषयरूपी ग्राम बसाये, परन्तु अन्तर को तो सूना रखा.....वहाँ भी एक अन्य (इन्द्रियातीत) नगर को बसा दे ।
देव तुहारी चिंत महु मज्झणपसरवियालि ।
तुहं अच्छेसहि जाइ सुउ परइ णिरामइ पालि ॥182॥
अन्वयार्थ : हे देव ! मुझे तुम्हारी चिन्ता है । जब यह मध्याह्न का प्रसार बीत जायगा, तब तू तो सोता रहेगा और यह पाली सूनी पडी रहेगी । (जबतक आत्मा है, तबतक इन्द्रियों की यह नगरी बसी हुई दिखती है; आत्माके चले जाने पर वह सब सुनकार उज्जड़ हो जाता है । अतः विषयों से विमुख होकर आत्मा को साथ लेना चाहिए ।)
तुट्टइ बुद्धि तडत्ति जहिं मणु अंरावणहं जाइ ।
सो सामिय उवएसु कहि अण्णहिं देवहिं काइं ॥183॥
अन्वयार्थ : हे स्वामी ! मुझे कोई ऐसा अपूर्व उपदेश दीजिये कि जिससे मिथ्याबुद्धि तड़ाक से टूट जाय और मन भी अस्तंगत हो जाय । अन्य कोई देव का मुझे क्या काम है ?
सयलीकरणु ण जाणियउ पाणियपण्णहं भेउ ।
अप्पापरहु ण मेलयउ गंगडु पुज्जइ देउ ॥184॥
अन्वयार्थ : जो सकली-करन (मंत्र द्वारा शरीर के अंगों व वस्त्र की शुद्धि) को या पानी-पत्र के भेद को नहीं जानता तथा आत्मा का

परमात्मा के साथ सम्बन्ध नहीं करता, वह तो पत्थर के टुकडे को देव समझकर पूजता है ।
अप्पापरहं ण मेलयउ आवागमणु ण भग्गु ।
तुस कंडंतहं कालु गउ तंदुलु हत्थि ण लग्गु ॥185॥
अन्वयार्थ : जिसने आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध नहीं किया और न आवागमन मिटाया, उसे तुस के कूटते हुए बहुत काल बीत गया तो भी तन्दुल का एक दाना भी हाथ में न आया ।
देहादेवलि सिउ वसइ तुहुं देवलइं णिएहि ।
हासउ महु मणि अत्थि इहु सिद्धें भिक्ख भमेहि ॥186॥
अन्वयार्थ : देहरूपी देवालय में तू स्वयं शिव बस रहा है और तू उसे अन्य देवल में ढूँठता फिरता है । अरे! सिद्धप्रभु भिक्षा के लिये भ्रमण कर रहा है -- यह देखकर मुझे हँसी आती है ।
वणि देवलि तित्थइं भमहि आयासो वि णियंतु ।
अम्मिय विहडिय भेडिया पसुलोगडा भमंतु ॥187॥
अन्वयार्थ : वन में, देवालयों मे तथा तीर्थों में भ्रमण किया, आकाश में भी ढूँढा, परन्तु अरे रे! इस भ्रमण में भेडिये और पशु जैसे लोगों से ही भेंट हुइ (भगवान का तो कहीं दर्शन न हुआ !)
वे छंडेविणु पंथडा विच्चे जाइ अलक्खु ।
तहो फल वेयहो किं पि णउ जइ सो पावइ लक्खु ॥188॥
अन्वयार्थ : पुण्य तथा पाप दोनों के मार्ग को छोड़कर अलख के अन्दर जाना होता है; उन दोनों का (पुण्य-पाप का) कुछ ऐसा फल नहीं मिलता कि जिससे लक्ष्य की प्राप्ति हो ।
जोइय विसमी जोयगइ
मणु वारणहं ण जाइ ।
इंदियविसय जि सुक्खडा
तित्थइं वलि वलि जाइ ॥189॥
अन्वयार्थ : हे योगी ! योग की गति विषम है; मन रोका नहीं जाता और इन्द्रिय-विषयों के सुख में बलि-बलि जाता हुआ फिर फिर इन्द्रिय-विषयों में भ्रमण करता है ।
बादउ तिहुवणि परिभमइ मुक्कउ पउ वि ण देइ ।
दिक्खु ण जोइय करहुलउ विवरेरउ पउ देइ ॥190॥
अन्वयार्थ : हे योगी ! आश्चर्य की बात देखो ! यह चैतन्य-करभ (हाथी का बच्चा अथवा ऊँट) की गति कैसी विपरीत-विचित्र है ! कि जब वह बंधा हो तब तो तीन-भुवन में भ्रमण करता है और जब छूटा (मुक्त) हो, तब तो एक डग भी नहीं भरता । (जगत मे सामान्यतः ऐसा होता है कि ऊँट वगैरह प्राणी जब मुक्त हों, तब चारों तरफ घूमते रहते हैं और जब बंधे हुए हों तब घूम-फिर नहीं सकते । किन्तु यहाँ आत्मा की गति ऐसी विचित्र है कि जब वह कर्म-बन्धन से मुक्त होता है तब तो एक डग भी नहीं चलता-स्थिर ही रहता है और जब बन्धन में बंधा हो तब तो चारों-गति / तीन-लोक में घूमता रहता है।)

गाथा १९१-२००

संतु ण दीसइ ततु ण वि संसारेहिं भमंतु ।
खंधावारिउ जिउ भमइ अवराडइहिं रहंतु ॥191॥
अन्वयार्थ : अरे रे ! संसार में भ्रमण करते हुए जीव को न सन्त दिखता है ओर न तत्त्व और वह पर की रक्षा का भार अपने कन्धे पर लेकर घूमता फिरता है । इन्द्रिय तथा मनरूपी फौज को साथ लेकर पर की रक्षा के लिये भ्रमण करता है ।
उव्वस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु ।
वलि किज्जउ तसु जोइयहि जासु ण पाउ ण पुण्णु ॥192॥

अन्वयार्थ : जो उजाड़ को तो बसाता है और बसे हुए को उजाड़ता है, जिसे न पुण्य है न पाप, अहो ! ऐसे योगी की बलिहारी है ।

कम्मु पुराइउ जो खवइ अहिणव पेसु ण देइ ।

अणुदिणु झायइ देउ जिणु सो परमप्पउ होइ ॥193॥

विसया सेवइ जो वि परु बहुला पाउ करेइ ।

गच्छइ णरयहं पाहुणउ कम्मु सहाउ लएइ ॥194॥

अन्वयार्थ : जो पुराने कर्मों को खिपाता है, नये कर्मों को आने नहीं देता और प्रतिदिन जिनदेव को ध्याता है, वह जीव परमात्मा बन जाता है ।

तथा दूसरा, जो विषयों का सेवन करता है तथा बहुत पाप करता है, वह कर्म का सहारा लेकर नरक का पहुना (मेहमान) बन जाता है ।

कुहिएण पूरिएण य छिद्देण य खारमुत्तगंधेण ।

संताविज्जइ लोओ जह सुणहो चम्मखंडेण ॥195॥

अन्वयार्थ : कुत्सित और क्षार (मूत्र) की दुर्गन्ध से भरित छेद लोक को संतापित करता है; जैसे कुत्ता चमड़े के टुकड़े में मूर्छित होकर हैरान होता है ।

देखंताहं वि मूढ वढ रमियइं सुक्खु ण होइ ।

अम्मिए मुत्तहं छिहु लहु तो वि ण विणडइ कोइ ॥196॥

अन्वयार्थ : हे मूर्ख ! मल-मूत्र का धाम ऐसा यह मलिन शरीर, जिसके देखने से या जिसमें रमने से कहीं सुख तो नहीं होता, तो भी मूढ-लोग कोइ उसको छोड़ते नहीं ।

जिणवरु झायहि जीव तुहुं

विसयकसायहं खोइ ।

दुक्खु ण देक्खहि कहिं मि

वढ अजरामरू पउ होइ ॥197॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू जिनवर को ध्या और विषय-कषायों को छोड़ । ऐसा करने से दुःख तेरे को नहीं दिखेगा और तू अजर-अमर पद को पावेगा ।

विसयकसाय चएवि वढ अप्पहं मणु वि धरेहि ।

चूरिवि चउगइ णित्तुलउ परमप्पउ पावेहि ॥198॥

अन्वयार्थ : हे वत्स ! विषय-कषायों को छोड़कर मन को आत्मा में स्थिर कर; ऐसा करने से चार गति को चूर कर तू अतुल परमात्मपद को पावेगा ।

इंदियपसरु णिवारियइं मण जाणहि परमत्थु ।

अप्पा मल्लिवि णाणमउ अवरु विडाविड सत्थु ॥199॥

अन्वयार्थ : रे मन ! तू इन्द्रियों के फैलाव को रोक और परमार्थ को जान । ज्ञानमय आत्मा को छोड़कर अन्य जो कोइ शास्त्र है, वे वितंडावाद हैं ।

विसया चिंति म जीव तुहुं सिवय ण भल्ला होंति ।

सेवंताहं वि महुर वढ पच्छइं दुक्खइं दिंति ॥200॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! तू विषयों का चिन्तन मत कर; विषय भले नहीं होते । सेवन करते समय तो वे विषय मधुर लगते है, परन्तु बाद में वे दुःख ही देते हैं ।

गाथा २०१-२१०

विसयकसायहं रंजियउ अप्पहिं चित्तु ण देइ ।

बंधिवि दुक्कियकम्मडा चिरु संसार भमेइ ॥201॥

अन्वयार्थ : जो जीव विषय-कषायों में रंजित होकर आत्मा में चित्त नहीं देता, वह दुष्कृत कर्मों को बाँधकर दीर्घ काल तक संसार में भ्रमण करता है ।

इंदियविसय चएवि वढ करि मोहहं परिचाउ ।

अणुदिणु झावहि परमपउ तो एहउ ववसाउ ॥202॥

अन्वयार्थ : हे वत्स ! इन्द्रिय-विषयों को छोड़, मोह का भी परित्याग कर, अनुदिन परमपद को ध्या; तेरे को भी ऐसा व्यवसाय होगा (तू भी परमात्मा बन जायगा) ।

णिज्जियसासो णिप्फंदलोयणो मुक्कसयलवावारो ।

एयाइं अवत्थ गओ सो जोयउ णत्थि संदेहो ॥203॥

अन्वयार्थ : निर्जित श्वास, निस्पंद लोचन ओर सकल व्यापार से मुक्त -- ऐसी अवस्था की प्राप्ति वही योग है, इसमें सन्देह नहीं ।

तुट्टे मणवावारे भग्गे तह रायरोससब्भावे ।

परमप्पयम्मि अप्पे परिट्ठिए होइ णिव्वाणं ॥204॥

अन्वयार्थ : जब मन का व्यापार टूट जाय, राग-रोष का भाव नष्ट हो जाय और आत्मा परमपद में परिस्थित हो जाय, तभी निर्वाण होता है ।

विसया सेवहि जीव तुहुं छंडिवि अप्पसहाउ ।

अण्णइ दुग्गइ जाइसिहि तं एहउ ववसाउ ॥205॥

अन्वयार्थ : रे जीव ! तू आत्मस्वभाव को छोड़कर विषयों का सेवन करता है तो तेरा यह व्यवसाय ऐसा है कि तू दुर्गति में जायगा । (अतः ऐसे दुर्ववसाय को छोड़ ।)

मंतु ण तंतु ण धेउ ण धारणु ।

ण वि उच्छासह किज्जइ कारणु ॥

एमइ परमसुक्खु मुणि सुव्वइ ।

एही गलगल कासु ण रुच्चइ ॥206॥

अन्वयार्थ : जिसमें न कोइ मंत्र है न तंत्र, न ध्येय है न धारण, श्वासोश्वास भी नहीं है; इनमें से किसी को कारण बनाये बिना ही जो परमसुख है, उसमें मुनि सोते (लीन होते) हैं; यह गड़बड़ या कोलाहल उनको नहीं रुचता ।

उववास विसेस करिवि बहु एहु वि संवरु होइ ।

पुच्छइ किं बहु वित्थरिण मा पुच्छिज्जइ कोइ ॥207॥

अन्वयार्थ : विशेष उपवास करने से (परमात्मा में बसने से) अधिक संवर होता है । बहुत विस्तार क्यों पूछता है ? अब किसी से मत पूछ ।

तउ करि दहविहु धम्मु करि जिणभासिउ सुपसिद्धु ।

कम्महं णिज्जइ एह जिय फुडु अक्खिउ मइं तुज्झु ॥208॥

दहविहु जिणवरभासियउ धम्मु अहिंसासारु ।

अहो जिय भावहि एक्कमणु जिम तोडहि संसारु ॥209॥

अन्वयार्थ : हे जीव ! जिनवर-भाषित सुप्रसिद्ध तप कर, दशविध-धर्म कर; इस रीति से कर्म की निर्जरा कर -- यह स्पष्ट मार्ग मैंने तुझे बता दिया ।

अहो जीव ! जिनवर-भाषित दशविध-धर्म को तथा सारभूत अहिंसा-धर्म को तू एकाग्र मन से इसप्रकार भा जिससे कि तेरा संसार टूट जाय ।

भवि भवि दंसणु मलरहिउ भवि भवि करउं समाहि ।

भवि भवि रिसि गुरु होइ महु णिहयमणुब्भववाहि ॥210॥

अन्वयार्थ : भव-भव में मेरा सम्यग्दर्शन निर्मल रहो, भव-भव में मैं समाधि धारण करूँ, भव-भव में ऋषि-मुनि मेरे गुरु हों और मन में

उत्पन्न होनेवाली व्याधि का निग्रह हो ।

गाथा २११-२२२

अणुपेहा बारह वि जिय भाविवि एक्कमणेण ।
रामसीहु मुणि इम भणइ सिवपुरि पाहवि जेण ॥211॥
अन्वयार्थ : हे जीव ! रामसिंह मुनि ऐसा कहते हैं कि तू बारह अनुप्रेक्षा को एकाग्रमन से इसप्रकार भा कि जिससे शिवपुरी की प्राप्ति हो ।
सुण्णं ण होइ सुण्णं दीसइ सुण्णं च तिहुवणे सुण्णं ।
अवहरइ पावपुण्णं सुण्णसहावेण गओ अप्पा ॥212॥
अन्वयार्थ : जो शून्य है वह सर्वथा शून्य नहीं है; तीन-भुवन से शून्य (खाली) होने से वह (आत्मा) शून्य दिखता है (परन्तु स्वभाव से तो वह पूर्ण हैं)। ऐसे शून्य-सद्भाव में प्रविष्ट आत्मा पुण्य-पाप का परिहार करता है ।
वेपंथेहि ण गम्मइ वेमुहसूई ण सिज्जए कंथा ।
विण्णि ण हुंति अयाणा इंदियसोक्खं च मोक्खं च ॥213॥
अन्वयार्थ : अरे अजान ! दो पथ में गमन नहीं हो सकता, दो मुखवाली सुइ से कथरी नहीं सिली जाती; वैसे इन्द्रियसुख तथा मोक्ष-सुख, ये दोनों बात एकसाथ नहीं बनती ।
उववासह होइ पलेवणा संताविज्जइ देहु ।
धरु डज्झइ इंदियतणउ मोक्खहं कारणु एहु ॥214॥
अन्वयार्थ : उपवास से प्रतपन होने से देह संतप्त होता है और उस संताप से इन्द्रियों का घर दग्ध हो जाता है -- यही मोक्ष का कारण है ।
अच्छउ भोयणु ताहं धरि सिद्धु हरेप्पिणु जेत्थु ।
ताहं समउ जय कारियइं ता मेलियइ समत्तु ॥215॥
अन्वयार्थ : अरे ! उस घर का भोजन रहने दो कि जहाँ सिद्ध का अपवर्णन (अवर्णवाद) होता हो । ऐसे (सिद्ध का अवर्णवाद करनेवाले) जीवों के साथ जयकार करने से भी सम्यक्त्व मलिन होता है ।
जइ लद्धउ माणिक्कडउ जोइय पुहवि भंमंत ।
बंधिज्जइ णियकप्पडइं जोइज्जइ एक्कंत ॥216॥
अन्वयार्थ : हे योगी ! पृथ्वी पर भ्रमण करते हुए यदि माणिक मिल जाये तो वह अपने कपड़े में बाँध लेना और एकान्त में बैठकर देखना । (संसार-भ्रमण में सम्यक्त्व रत्न को पाकर एकान्त में फिर-फिर उसकी स्वानुभूति करना; लोगो का संग मत करना ।)
वादविवादा जे करहिं जाहिं ण फिट्टिय भंति ।
जे रत्ता गउपावियइं ते गुप्पंत भमंति ॥217॥
अन्वयार्थ : वाद-विवाद करनेवाले की भ्रांति नहीं मिटती । जो अपनी बढाई में तथा महापाप में रक्त हैं, वे भ्रान्त होकर भ्रमण करते रहते हैं ।
कायोऽस्तीत्यर्थमाहारः कायो ज्ञानं समीहते ।
ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं पदम् ॥218॥
अन्वयार्थ : आहार है सो काया की रक्षा के लिये है, काया ज्ञान के समीक्षण के लिये है, ज्ञान कर्म के विनाश के लिये है तथा कर्म के नाश से परमपद की प्राप्ति होती है ।
कालहिं पवणहिं रविससिहिं चहु एक्कठइं वासु ।
हउं तुहिं पुच्छउ जोइया पहिले कासु विणासु ॥219॥
अन्वयार्थ : काल, पवन, सूर्य तथा चन्द्र -- ये चारों का इकट्ठा वास है । हे योगी ! मैं तुझसे पूछता हूँ कि इनमें से पहले किसका विनाश होगा ?
ससि पोखइ रवि पज्जलइ पवणु हलोले लेइ ।

सत्त रज्जु तमु पिल्लि करि कम्महं कालु गिलेइ ॥220॥

अन्वयार्थ : चन्द्र पोषण करता है, सूर्य प्रज्जवलित करता है, पवन हिलोरें लेता है ओर काल सात राजू के अन्धकार को पेलकर कर्मों को खा जाता है ।

मुखनासिकयोर्म्मध्ये प्राणान् संचतें सदा ।

आकाशे चरते नित्यं स जीवो तेन जीवति ॥221॥

अन्वयार्थ : मुख और नासिका के मध्य में जो सदा प्राणों का संचार करता है और जो सदा आकाश में विचरता है (प्राणवायु), उसी से जीव जीता है ।

आपदा मूर्च्छितो वारिचुलुकेनापि जीवति ।

अंभ:कुंभसहस्त्राणां गतजीव: करोति किम् ॥222॥

अन्वयार्थ : जो आपदा से मूर्च्छित हुआ है, वह तो चुल्लुभर पानी के छिड़कने से भी जीवंत (जागृत) हो जाता है; परन्तु जो गतजीव है (मृत्यु को प्राप्त) उसे तो पानी के हजारों घड़े भी क्या कर सकते हैं ? (जिस जीव में मुमुक्षुता है, वह तो थोड़े से ही उपदेश से जागृत हो जाता है, परन्तु जिसमें मुमुक्षुपना नहीं है, उसे तो हजारों शास्त्रों का भी उपदेश निरर्थक है ।)